

“गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य”

(एम. फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशिका

प्रो० सावित्री चन्द्र ‘शोभा’

शोधकर्ता

चमन लाल शर्मा

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

1991



जवाहरलाल नहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भाषा संस्थान
भारतीय भाषा केंद्र

दिनांक :

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री चमन लाल शर्मा द्वारा प्रस्तुत "गढ़वाली लोकगाथों में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य" शास्त्रीक लघु शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्री का इस शिविविद्यालय उच्चवाचन्य शिविविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेश उपाधि के लिये उपयोग नहीं किया गया है।

मैं यह भी प्रमाणित करती हूँ कि यह लघु शोध प्रबन्ध श्री चमन लाल शर्मा की मौलिक कृति है।

Chanan

अध्यक्ष

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरु शिविविद्यालय

नई दिल्ली

०५-८-८८

प्रो० सावित्री चन्द्र शोभा

मिर्केशीका

भारतीय भाषा केंद्र

जवाहरलाल नेहरु शिविविद्यालय

नई दिल्ली

प्राक्कथन

लोक-संस्कारों के कारण लोक-साहित्य के प्रति मेरी बभिराचि प्रादृश्य से ही रही है, किन्तु गढ़वाली लोक-समाज में प्रबलित उन मिथ्कीय परम्पराओं ने लोक-साहित्य के प्रति मेरी संस्कारजनीन उत्कण्ठा को बाँर बधिक बढ़ाया है, जिसे बनुसार किसी विशेष अस्था में किसी विशेष व्यक्ति के बन्दर देवता का प्रवेश कराया जाता है, फिर गीत कथाओं के साथ ढोल बादि वार्षों का प्रयोग कर उस व्ययित से नुत्य करवाया जाता है। मिथ्क के बनुसार यह कार्य देवता को प्रसन्न करने तथा बन-समाज की सुशाहाली के लिए किया जाता है।

लोक-साहित्य में मूल मानव बोलता है। उसके अध्ययन से समाज के वे तत्व उपर कर ऊपर जाते हैं, जो विस्मृति के बनें फतों में दब गये हैं, वे मावनार्द प्रकट होती हैं, जो विदेशी सम्यता ने भस्मीसात् कर दिए। वह परम्परा, विकासक्रम बाँर इतिहास सामने जाता है, जिसे सम्य समाज मूलता जा रहा है या मूल गया है बाँर वह बात्य विश्वास उभरता है, जो अपने पूर्वजों की संज्ञाओं के पुनर्जूत्यांकन को प्रेरणा केता है।

गढ़वाली लोक साहित्य के अध्ययन का प्रस्ताव जब मैंने अपनी ज्ञाध निर्देशक प्रो० सावित्री चन्द्र के सम्मुख रखा तो उन्होंने उसे तुरन्त स्वीकार कर पूर्ण सहयोग का बाश्वासन दिया बाँर मुझे लोक-साहित्य को समझने की समाजशास्त्रीय इच्छा दी। उन्होंने पुस्तक 'समाज बाँर संस्कृति' ने मेरी इस इच्छा को बधिक समर्पण किया है।

साहित्य एवं मार्षा-विज्ञान की दृष्टि से गढ़वाली लोक-साहित्य का वर्धयन अवश्य प्रारम्भ हो गया है किन्तु उसके समाजशास्त्रीय वर्धयन के प्रति अभी तक विद्वानों का ध्यान कम गया है। यथपि लोक-गीत, लोक-गाथाओं बाँर लोक-कथाओं के संग्रह छपे हैं, पूमिकाओं में विश्लेषण भी प्रस्तुत किये गये हैं, पर सम्पूर्ण लोक-साहित्य के विविध बंगों का विधिवत वर्धयन नहीं प्राप्त होता। मार्षा बाँर साहित्य की दृष्टि से गढ़वाली लोक साहित्य के वर्धयन का सर्वप्रथम प्रामाणिक प्र्यास डा० हरिदद्द घट्ट 'श्लेश' ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाली मार्षा बाँर उसका साहित्य' में किया है। उसके बाद डा० मोहनलाल बाबुलकर ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक वर्धयन' में गढ़वाली लोक-साहित्य के रूपों का वर्गीकरण कर गढ़वाली बन-बीचन को सोचने का प्रारम्भिक प्र्यास शुरू किया था, लेकिन वह विवरणात्मक पक्ष पर ही बधिक ध्यान दे पाये हैं। इनके बालावा डा० गोविन्द चातक ने भी गढ़वाली लोक साहित्य के प्रकाशन बाँर विवेचन में अपना महत्वपूर्ण योग किया है। उन्होंने गढ़वाली लोक-गाथाओं का संग्रह प्रकाशित किया है किन्तु उसका सामाजिक विवेचन नहीं किया है।

गढ़वाली लोक-समाज के वर्धयन के लिए मैंने गढ़वाली लोक गाथाओं को ही आधार बनाया है। क्योंकि समाज का जितना विशद चित्रण गाथाओं में होता है, उतना बन्यत्र नहीं।

गढ़वाली लोक-गाथाओं का संग्रहण, प्रकाशन बाँर विवरणात्मक वर्धयन अवश्य हुआ है, किन्तु उनका सामाजिक विवेचन अभी तक नहीं हो पाया है। सर्वथा माँलिकता की दृष्टि से मैंने गाथाओं को ही वर्धयन के लिए चुना है। गाथाओं के मार्ध्यम से गढ़वाली लोक-समाज के मूल्यांकन बाँर विश्लेषण के लिए मैंने डा० हरिदद्द घट्ट 'श्लेश' की पुस्तक 'गढ़वाली मार्षा बाँर उसका साहित्य' में संकलित गढ़वाली लोक-गाथाओं तथा डा० मोहनलाल बाबुलकर की पुस्तक 'गढ़वाली साहित्य का विवेचनात्मक वर्धयन' में संकलित गाथाओं को ही आधार बनाया गया है।

निःसन्देह इस बध्ययन का दोत्र सीपित है तथापि गढ़वाली लोक-गाथार्हों का वर्णकरण और सामाजिक मूल्यांकन कर, इसके पाठ्यम से गढ़वाली लोक जीवन की फाँकी प्रस्तुत करने का प्र्यास किया गया है ।

सम्पूर्ण शोध पृष्ठन्ध बार बध्यार्हों में विभक्त है । प्रथम बध्याय में वर्पने बध्ययन की भूमिका प्रस्तुत करते हुए लोक साहित्य और उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि को प्रकट किया गया है । इसके बन्तर्गत लोक साहित्य का स्वरूप, लोक साहित्य और सामाजिक जीवन-मूल्य तथा लोक-साहित्य के विकास-क्रम में गढ़वाली लोक-साहित्य का स्थान निर्धारित किया गया है ।

द्वितीय बध्याय में गढ़वाली लोक-गाथार्हों का सामान्य परिचय देते हुए गढ़वाली लोक साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्यों को ऐकांकित किया गया है । इसके बन्तर्गत गढ़वाली लोक-समाज में जातीय और पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप, नारी की स्थिति और उसकी वर्गीय वेतना को व्याख्यायित किया गया है ।

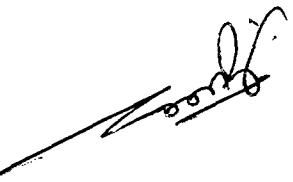
तृतीय बध्याय में राजनीतिक जीवन-मूल्यों का विवेचन किया गया है । इसके बन्तर्गत राजा-प्रजा सम्बन्ध, फँचायत और मुख्या बादि के कार्यों और प्रशासन का उल्लेख करते हुए उस पूरे राजनीतिक परिवेश को प्रस्तुत किया गया है ।

चतुर्थ बध्याय में गढ़वाली लोक-समाज के सांस्कृतिक पदा का विश्लेषण किया गया है । इसके बन्तर्गत संस्कृति के बाह्य पदा से सम्बन्धित बाढ़वाली लोक समाज के लान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, पनोरंजन, खेल, उत्सव तथा त्याहार एवं संस्कृति में वैचारिक पदा से सम्बन्धित धार्मिक-मान्यताएं, जन्मविश्वास, तंत्र-पंत्र, जादू-टोना बादि का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

इस समूचे वर्ध्यन का सारांश निष्कर्ष रूप में उपसंहार में दिया गया है ।

इस शोध को सम्पन्न करने के लिए मेरे गुरुजनों के बतिरिक्त बनेक पित्रों वाँर सत्योगियों ने सम्य-समय पर मुक्ते सम्मति वाँर सुफाव दिये हैं । बपनी बनेक व्यस्तताबाँ के बावजूद श्री राजेन्द्र घस्माना, श्री देवेन्द्र सकलानी वाँर श्री विनोद चन्दोला जी ने मुक्ते जो वाँछनीय सत्योग दिया है, मैं उसके लिए आभार प्रकट करता हूँ । पारिवारिक सदस्यों में पंजु वाँर रश्म ने भी सापगी संकलन में सहायता पहुंचाई है ।

प्रमुख रूप से मैं बपनी शोध निर्देशिका प्रो०० सावित्री बन्द्र 'शोभा' जी का आभार व्यक्त करता हूँ जिनके स्नेहपूर्ण एवं कुशल निर्देशन में यह शोध सम्पन्न हो सका है । लोक-साहित्य को समझने को जो क्यों दृष्टि मुक्ते मिली है, वह हन्हों के सानिध्य वाँर सत्योग का परिणाम है ।



(चमन लाल शर्मा)

प्राक्कथन

पृथम बध्याय : पृष्ठभूमि

(१) लोक-साहित्य का सामान्य परिच्य	1
(२) लोक-साहित्य के विभिन्न रूप	9
(क) लोक-गीत	10
(ख) लोक-गाथा	12
(ग) लोक-कथा	15
(घ) लोक-नाट्य	17
(ड) लोक सुभाषित	19
(३) लोक-साहित्य बाँर सामाजिक जीवन-मूल्य	20
(४) लोक-साहित्य का विकासक्रम बाँर गढ़वाली लोक-साहित्य	24

द्वितीय बध्याय : गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य 27

(१) गढ़वाली लोक-गाथाओं का सामान्य परिच्य	27
(२) गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य	33
(३) वर्गत, जातीय बाँर पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप	38
० परिवार	44
(क) पति-पत्नी सम्बन्ध	48
(ख) सास-बहु का सम्बन्ध	51

(ग) देवर-मापी का सम्बन्ध	54
(घ) सपत्नी सम्बन्ध	55
 (४) नारी सम्बन्धी जीवन-पूत्य	57
(५) नारी की वर्गीय वेतना - (ब) वार्थिक (बा) राजनीतिक (इ) धार्मिक	63
 <u>तृतीय बध्याय : गढ़वाली लोक-गाथाओं में बभिव्यक्त राजनीतिक जीवन-पूत्य</u>	66
 (क) राजा-प्रजा सम्बन्ध	70
(ख) पंचायत बाँर मुखिया	75
(ग) वार्थिक पदा : कूषिं बाँर व्यवसाय ।	78
 <u>चतुर्थ बध्याय : गढ़वाली लोक-गाथाओं में बभिव्यक्त सांस्कृतिक जीवन-पूत्य</u>	81
 (१) संस्कृति से तात्पर्य	85
(२) संस्कृति का बाह्य स्वरूप (क) वेशभूषा	85
(ख) आमूषण	87
(ग) खान-पान	88
(घ) रहन-सहन	89
(ड) पनोर्जन	90
(च) मेले, उत्सव तथा त्यांहार	92

पृष्ठ संख्या

(३) संस्कृति का वैचारिक पढ़ा	93
(क) धार्मिक पात्रताएँ	93
(ख) अंग विश्वास	95
(ग) तंत्र-पंत्र	97
(घ) बादू टोना	98
 <u>उपसंहार</u>	 100
 <u>परिशिष्ट</u>	 103
(व) सहायक ग्रन्थ सूची	103
(वा) कोश-सूची	106
(ह) पत्रिकाओं की सूची	106
 000	 0

पञ्चमभूमि

लोक साहित्य का सामान्य परिचय

‘लोक-साहित्य’ शब्द ‘लोक’ और साहित्य’ हन दो शब्दों से बना है । इसका वास्तविक अर्थ है लोक का साहित्य । लोक यहाँ अग्रजी के ‘फॉल्क’ (Folk) शब्द का पर्यायवाची है । ‘फॉल्क’ के पर्याय से ‘लोक’ के कई अर्थ हो सकते हैं - उस लोक या समाज का साहित्य जो सम्यता की सीमाओं से बाहर है, सम्य-समाज में जिनकी गिनती नहीं उनका साहित्य । ° ‘फॉल्क’ शब्द के अन्तर्गत वे ही लोग वा सकते हैं, जो गांधी परम्परा को सुरक्षित रखे हुए हैं । क्योंकि ‘लोक-साहित्य’ का सम्बन्ध ‘फॉल्क-लोर’, ‘फॉल्क-लिटरेचर’ या ‘लोक-वातां’ साहित्य से है । °^३ यथापि ‘लोक-वातां’ शब्द वर्धिक व्यापक है, लेकिन अपनी अभिव्यक्ति में वह लोक साहित्य का भी अर्थ देने लगता है । लेक्जेण्डर स्व० क्रेस्स ने इस शब्द को दो रूपों में प्रयुक्त किया है -- एक - छोगों की अलिखित परम्पराओं की सामग्री, जो लोक-व्यापी (अर्थात् जन-साहित्यिक) कथा, कहानी, रिवाज, विश्वास, बादू-टोना तथा बन्धान में मिलती है । दो - वह विज्ञान जो इन सामग्रियों का वर्धयन करना चाहता है ।^२ सी० सन० बर्न ने भी लोक-साहित्य को लोकवातां का ही अं माना है तथा लोक-साहित्य की अपेक्षा लोक-वातां की व्यापकता को स्वीकार किया है -- ‘लोक-वातां’ के अन्तर्गत फ़िल्हाल जातियों में प्रचलित वर्षा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंकृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज,

१. हिन्दी साहित्य शब्द कोण - लोक साहित्य - स० धीरेन्द्र वर्मा,
पृ० ७५३

२. सन्दर्भ : छठी स गढ़ी लोक जीवन और लोक साहित्य - डा० शहुन्तला
वर्मा, पृ० ३६

कहान्नियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के झड़ तथा बेतन ज्ञात के सम्बन्ध में, भूत-प्रेताँ की दुन्निया तथा उनके साथ परुष्यों के सम्बन्ध के विषय में जादू-टोना, सम्पोहन-वशीकरण, तावोज, माय, शून, रोग तथा प्रत्यु के सम्बन्ध में वादिम तथा असम्य विश्वास इसके द्वात्र में आते हैं। बाँर भी इसमें विवाह, उचराधिकार, बात्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीतिरिवाज तथा बनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आसेट भी इसमें आते हैं तथा धर्मगाथार्द, अवदान (लोजेण्ड), लोक कहान्नियाँ, किंवदंतियाँ, पहेलियाँ और लोरियाँ भी इसके विषय हैं।^३ स्पष्ट है कि 'लोक साहित्य' 'लोक-बातों' से वर्ष ग्रहण करता है, लेकिन उसमें 'लोक बातों' कितनी व्यापकता नहीं होती।

साहित्य शब्द के साथ 'लोक' जोड़ देने से यह किसी विशेष साहित्य की ओर इंगित तो करता है, लेकिन इसके बावजूद वह अपनी विशेषता के साथ अन्य बनेक वर्ष भी देने लाता है। ढा० सत्येन्द्र ने 'लोक-साहित्य' शब्द को कुछ इस तरह से परिमाणित किया है -- 'लोक साहित्य' के अन्तर्गत वह माणागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें --

(अ) वादिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों,

(बा) परम्परागत पौरिक क्रम से उपलब्ध माणागत अभिव्यक्ति हो, क्यों किसी की कृति न कहा जा सके, जो क्रुति ही माना जाता है बाँर जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समाझ हो,

(इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसको व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध करते हुए भी लोक उसे

५

बपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें ।^१

एक अन्य जगह पर भी उन्होंने लोक साहित्य में लोक तत्वों की प्रमुखता की बात की है -- 'लोक' पनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य वेतना अथवा बहंकार से शून्य है, बाँर जो एक परम्परा के प्रभाव में जीवित रहता है, ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, वे लोक तत्व कहलाते हैं तथा ऐसे लोक का साहित्य ही लोक-साहित्य है ।^२ डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने लोक-साहित्य को ग्रामीण साहित्य कहते हुए लिखा है कि -- 'ग्रामीण लोक समाज जिन शब्दों में अपने हृदय के उद्गार फ्रट करता है, साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है, रोती है, हँसती है, खेलती है, उन सब को लोक-साहित्य कहा जा सकता है ।'^३ लेकिन लोक-साहित्य को ग्रामीण-साहित्य कहने से वह सीमित अर्थ देने लगता है । लोक-साहित्य शहरों और कस्बों में बसे हुए विशेष वर्गों का साहित्य भी हो सकता है, जिसकी पहचान उसकी लोक-परम्परा और लोक-संस्कृति के जीवन्त तत्वों की विभाजना के कारण होती है, वह सम्य संस्कृति के साथ रहते हुए भी उससे उतनी ही दूर है, जितना ग्रामीण लोक-समाज, शहरी होते हुए भी - उसकी वेतना लोक-तत्वों से ही बनुप्राणित होती है ।

१. प्रध्युमीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक विध्ययन - डा० सत्येन्द्र, पृ० ३५
२. लोक साहित्य विज्ञान - डा० सत्येन्द्र, पृ० ३
३. कन्नाजी लोकसाहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, पृ० १

दरक्षल शहरी या कस्बाईं लोक-समाज की बात मैंने इसलिए की है कि औद्योगिकीकरण के कारण गांवों से शहरों की ओर जो प्रायन हुआ है, वह बड़ी संख्या में हुआ है, द्वार-दराज के अंचल के इस वर्ग को सम्प्रसंस्कृति ने अपनी ओर बाँध ले किया, लेकिन उन्हें स्वीकार नहीं किया, या यूं कहें कि अपनी आधिक पञ्चवूरी के कारण ये लोग शहरों की ओर तो आये लेकिन अपनी लोक-वेतना और संस्कारों के कारण शहरी संस्कृति को बहसा बात्मसात् नहीं कर पाये। इसलिए इन्होंने अपनी परम्परा बाँर संस्कृति को ही सम्प्रसंस्कृति (शहरी संस्कृति) के समानान्तर प्रवाहित किया, जो लोक-तत्त्वों बाँर लोक-वेतना से बनुप्रेरित होती है। कहने का बाश्य यह है कि शहरों या कस्बों में रहनेवाला वह विशेष वर्ग 'जिसे 'लोक' कहा जा सकता है, का साहित्य भी लोक-साहित्य हो सकता है, इसलिए लोक-साहित्य को ग्रामीण साहित्य कहना उसके अर्थ विस्तार की सम्पादना कोक्ष करना है। बाज लोक-साहित्य को हम जिस रूप में ग्रहण करतेहैं, निश्चित ही वह इससे कहीं अधिक व्यापक है। लोक साहित्य में किसी देश या जाति की हजारों वर्षों की परम्परा, राष्ट्र के उत्थान फूल, मानव जाति के सम्पूर्ण जीवन की कहानी गुम्फित होती है, बतीत से लेकर बाज तक की समस्त बौद्धिक, धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृच्छियों का विकासशील इतिहास लोक-साहित्य में मिलता है। लोक साहित्य का सम्बन्ध नृ शास्त्र, समाजशास्त्र, मार्षा विज्ञान, इतिहास, पूर्णाल, मनोविज्ञान वादि शास्त्रों से बखण्ड रूप से है।

हमारी परम्परा में भी 'लोक' शब्द अनेकार्थी रहा है। लोक का एक अर्थ वेदेतर मी रहा है। समाज में नागरिक बाँर ग्रामीण दो मिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, पर लोक दोनों में विभान है। लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है, जिसमें मूत, मविष्य,

वर्तमान सभी कुछ संचित रखता है, लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है ।^१ मारतीय विचारकों ने लोक का बहुत विशद वर्ण किया है । यदि लोक को मानव मात्र के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाय तब तो मानव समाज का जितना भी साहित्य है, वह सभी लोक साहित्य में अन्तर्मूल हो जायेगा, दूसरी ओर यदि 'लोक-परिपाठी' को दृष्टि में रखा जाय तो वेद से इतर जितना भी साहित्य है, वह सारा का सारा लौकिक कोटि में तो बा जायेगा, पर उसे लोक-साहित्य कदापि नहीं कहा जा सकता । इसे स्पष्ट करते हुए ही हजारों प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -- "हमें 'लोक' का अर्थ समझने में यह न मूलना चाहिए कि इस विशिष्ट दोत्र में 'लोक' शब्द की अपनी सीमाएँ हैं, अतः इस सीमा तक ही यह मूल रूप से अर्थ दे सकता है, यह बात अवश्य है कि फोक (Folk) के नितान्त संकुचित अर्थ को कुछ विस्तार दिया जा सकता है । क्योंकि पर्याय होने पर भी शब्द की कुछ अपनी परम्परा होती है और उस परम्परा से उसका सम्बन्ध एकदम विच्छिन्न हो जाय, यह तो सम्भव ही नहीं है । हमारा लोक पाश्वात्य लोक से कुछ भिन्नता रखता है और इसका अर्थ ग्राम्य नहीं है बरन् नगरों और गांवों में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पौथियाँ नहीं हैं ।"^२

यह 'लोक' शास्त्र की ओर उन्मुख न होकर अपनी परम्परा से प्राप्त गीतों, कहानियों तथा कहावतों से प्रेरणा लेकर जीवन दोत्र में बग्रसर

१. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक - ढा० वासुदेव शरण अवाल, पृ० ६५

२. 'जनपद' - लोक साहित्य का अध्ययन - हजारों प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५

होता है। वाँर यही लोक पारिभाषिक शब्द 'लोक-साहित्य' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है वाँर इसी लोक का साहित्य जो पीढ़ी दर पीढ़ी पाँखिक परम्परा में चलता है, 'लोक साहित्य' कहलाता है।

कुछ विद्वानों ने, विशेष रूप से रामनरेश त्रिपाठी ने 'फौक' (folk) के लिए 'ग्राम' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी लोक-साहित्य सम्बन्धी सभी पुस्तकों में 'ग्राम-साहित्य', 'ग्राम-गीत', 'ग्रामीण-कहावतें' - इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने स्वयं भी कहा है कि लोक गीत की अपेक्षा ग्रामगीत ज्यादा उपर्युक्त है।^१ जबकि गीतों की रचना में ग्राम बाँर कार की उतनी मूषिका नहीं है, जितनी सर्वसाधारण लोक की।^२ यही बात ग्राम-साहित्य के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार फौक-लिटरेचर (Folk-Literature) को 'ग्राम-साहित्य' न कहकर 'लोक-साहित्य' कहना ही विधिक तर्कसंगत होगा।^३

लोक साहित्य के उपर्युक्त विवेचन को विधिक स्पष्ट करने के लिए ढा० सन्तराम बनिल के शब्दों में कहा जा सकता है कि -- 'सर्व-साधारण समाज की वह पौर्खि एवं स्वाभाविक विविधिक, जिसकी रचना में अध्यास

१. जनपद भैमासिक लं - ग्रामीण साहित्य - रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ११
२. राजस्थानी लोक गीत - ढा० सूर्यकरण पारीक, पृ० १
३. लोक साहित्य की मूषिका - ढा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १६

बाँर बथ्यन की अपेक्षा नहीं होती, जिसमें कर्ता का व्यक्तित्व साधारणीकृत हो जाता है बाँर जिसमें वादिम पानव के कुछ न कुछ बंश विघ्नान हों तथा जिसे एक पीढ़ी द्वारा पीढ़ी को संपत्ति बढ़ा जाय, 'लोक-साहित्य' कहलाती है।^३

वासुदेवशरण ब्रजवाल ने 'फॉक लोर' शब्द का हिन्दी पर्यायवाची शब्द 'लोकवाताँ' बताया है बाँर लोक साहित्य को लोक वाताँ का ही एक बंग माना है, परन्तु कृष्णादेव उपाध्याय ने 'लोक-वाताँ' शब्द को अधिक से अधिक लोक-कथा या लोक चर्चाँ का माव बहन करने की समिता तक ही सीमित कहा है^४ डा० सत्यवृत्त सिन्हा ने 'लोक-साहित्य' के दो भेद बताते हुए कहा है कि - 'लोक-साहित्य' के दो भेद हैं - लोक-गीत और लोक-वाताँ। वाताँ शब्द में इतनी व्यापकता नहीं है कि उसमें समस्त लोक-साहित्य का समावेश हो जाय।^५ ब्रज लोक साहित्य का विवेचन करते हुए डा० सत्येन्द्र ने पी लोक साहित्य को लोक वाताँ से अधिक व्यापक माना है - 'एक दृष्टि से लोक साहित्य का एक बंग ही लोक-वाताँ के बन्तर्गत जा सकता है, ऐसा पी लोक-साहित्य हो सकता है, जो लोकवाताँ नहीं माना जा सकता।'^६ यद्यपि 'फॉक-लोर' (Folk-Lore) शब्द 'फॉक-लिटरेचर' (Folk-Literature) से अधिक विस्तृत है, लेकिन कठिनाई तब उत्पन्न होती है

१. कन्नाँजी लोक साहित्य - सन्तराम बनिल, पृ० २५
२. पृथिवी पुत्र - वासुदेवशरण ब्रजवाल, पृ० ८५
३. लोक साहित्य का सामान्य परिचय - डा० कृष्णादेव उपाध्याय, पृ० १६
४. हिन्दी बनुशीलन - पक्किा - डा० सत्यवृत्त सिन्हा, पृ० ३६
५. ब्रज लोक साहित्य का वथ्यन - डा० सत्येन्द्र, पृ० ५

जब 'फोक लोर' का पर्याय 'लोक-वाताँ' मान लिया जाता है। निश्चित रूप से 'वाताँ' शब्द उस पूरे वर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर पाता, जो 'फोक-लोर' करता है, इसीलिए 'लोक-वाताँ' 'लोक-साहित्य' की अपेक्षा सीमित रूथ देने लगता है। वैसे भी 'वाताँ' शब्द का वर्थ हमारी परम्परा में कथा, वृत्तान्त या संवाद तक सीमित है, सम्भवतः इसलिए भी वह 'फोक-लोर' (Folk-Lore) का पूरा वर्थ नहीं दे पाता है।

'फोक-लोर' के लिए हिन्दो में एक और शब्द प्रयुक्त हुआ है - 'लोक-संस्कृति'। 'लोक-संस्कृति' के बन्तर्गत जन-जीवन से सम्बन्धित जिनेवाचार-विवार, विधि-निषेध, विश्वास, बनुष्ठान, प्रथा, परम्परा, धर्म, मूढ़ाग्रह आदि हैं, वे सभी बातें हैं। अतः 'फोक-लोर' के लिए 'लोक-वाताँ' की अपेक्षा 'लोक-संस्कृति' का प्रयोग अधिक समीचीन है। यदि इस दृष्टि से हम देखें तो निश्चित हो 'लोक वाताँ' लोक-साहित्य से कहीं अधिक विस्तृत है। सोफिया बर्न ने 'फोक-लोर' के दैनिक विस्तार के सम्बन्ध में 'फोक-लोर' के विषय को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है --

- (क) लोक-विश्वास वीर वर्ध परम्परार्
- (ख) रीति रिवाज तथा प्रथार्^२
- (ग) लोक साहित्य ।

सोफिया बर्न ने 'लोक-संस्कृति' का जो श्रेणी विभाग किया है,

१. लोक-साहित्य की मुमिका - डा० कृष्ण देव उपाध्याय, पृ० २०
२. सन्दर्भ - ब्रजलोक साहित्य का वर्धयन, डा० सत्येन्द्र, पृ० ४-५

उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लोक-साहित्य', 'लोक-संस्कृति' का एक मांग है, उसका एक अंश है। लोक-संस्कृति की व्यापकता जन-जीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है, परन्तु लोक-साहित्य बनता के गीतों, कथाओं, गाथाओं, मुहावरों बाँर कहावतों तक ही सीमित है। लोक-संस्कृति में ही लोक-साहित्य का बन्तमवि होता है।

लोक-साहित्य के विभिन्न रूप

लोक-साहित्य बाँर लोक-जीवन का अभिन्न सम्बन्ध है। आदिम मानव का योग तो इसमें है ही, साथ ही इसका अविच्छिन्न प्रवाह जात्यापि है। जंलों में गुंजते स्वर, खेती करते किसानों की गुनगुनाहट सर्व बनेक बवसरों पर लोक-नृत्य की पस्ती परी थिरक लोक-साहित्य में ही तो मिल सकती है। सामाजिक बद्धाव के कारण यथापि इसके बाल्य कलेवर में भी परिवर्तन बा जाता है, लेकिन इसकी मूल वेतना यथावत बनी रहती है। लोक साहित्य का कोई एक रचनाकार नहीं होता या युँ कहें कि लोक-साहित्य श्रुति परम्परा पर ही आधारित होता है बाँर रचनाकार प्रायः बजात होता है। इसो वजह से इसमें प्रायाणिक मूल पाठ का भी अमाव होता है। यथापि लोक-साहित्य पर अभी उतना काम नहीं हो पाया है, फिर भी लोक-साहित्य का काफी कुछ साहित्य प्रकाशित हो चुका है, जिसे बब इसमें स्थिरता की काफी गुंजाइश हो गयी है।

लोक-साहित्य सर्वसाधारण की अभिव्यक्ति है, ये लोग जो सोचते हैं, जिस विषय की बन्नुभूति करते हैं, उसी का प्रकाशन उनके साहित्य में पाया जाता है। प्रकृति में परिवर्तन के साथ उससे बपने सम्बन्धों को स्थापित करते हुए विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति, बन्नुभवों पर आधारित हृदयगत विचारों का प्रकाशन और परस्पर सामाजिक सम्बन्धों का कथन, लोक-साहित्य के कुछ

ऐसे पाँलिक तत्ख हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकते। लोक-साहित्य हमें बनेक रूपों में प्राप्त होता है, लेकिन प्रधानत्या हम उसके पांच विभाग कर सकते हैं --

- (१) लोक-गीत (Folk-Lyrics)
- (२) लोक-गाथा (Folk-Ballads)
- (३) लोक-कथा (Folk-Tales)
- (४) लोक-नाट्य (Folk-Drama)
- (५) लोक-सुपारिषद (Folk-Sayings)

(१) लोक-गीत

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी प्रचुरता और व्यापकता के कारण हसकी प्रधानता स्वाभाविक भी है। कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों को पांच प्रकार से विभाजित किया है --

- (१) विभिन्न संस्कारों पर गाये जानेवाले लोक-गीत
- (२) रसानुभूति के लोक-गीत
- (३) झुजों बाँरवतों के क्वसर पर गाये जानेवाले गीत
- (४) विभिन्न जातियों के लोक-गीत
- (५) श्रम-गीत।

ठा० पोहन्छाल बाबुल्कर ने भी यही कार्गीकरण किया है। प० रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-गीतों का कार्गीकरण निष्ठलिखित श्रेणियों में किया है -

-
- १. लोक साहित्य की भूमिका - कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० ६१
 - २. कविता कौमुदी, भाग ५ - रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ४५

- (१) संस्कार सम्बन्धी गीत
- (२) चक्री और चरखे के गीत
- (३) घर्म गीत
- (४) छु सम्बन्धी गीत
- (५) सेती के गीत
- (६) मिखमंगी के गीत
- (७) मेले के गीत
- (८) जाति गीत
- (९) वीर गाथा
- (१०) गीत कथा
- (११) बनुभव के वचन ।

उपर्युक्त वर्गीकरण पर यदि ध्यान किया जाय तो इसमें बनावश्यक विस्तार लगता है, जबकि ढा० उपाध्याय वाले वर्गीकरण में वैज्ञानिकता अधिक है। इधर ढा० श्याम परमार ने 'भारतीय लोक साहित्य' में श्री मास्कर रामचन्द्र मालेराव के पत का उल्लेख करते हुए उन्हें छारा प्रतिपादित लोक-गीतों के मेदाँ का उल्लेख किया है। श्री मालेराव ने लोक-गीतों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है ॥

- (१) संस्कार विषयक गीत
- (२) माहवारी गीत
- (३) सामाजिक ऐतिहासिक गीत
- (४) विविध ।

लोक-गीत जैसे एक 'दैवी वाक्य' है जिसका न कोई निमित्ति है, न स्वर-संघाता। वह जैसे पानव समुदाय में सहज हो स्वयं ही उद्धरित हो उठा है, और बिना प्र्यास के हो सहज ही कण्ठ से कण्ठ पर उतरती हुई अपनी परम्परा स्थापित करता रहा है।

(२) लोक-गाथा

जिस प्रकार काव्य का विभाजन-गीति-काव्य और प्रबन्ध-काव्य के रूप में किया जाता है, उसी प्रकार लोक गीतों का विभाजन भी उन्हें वर्ण-विषय के आधार पर गेय-गीत (Lyrics) और प्रबन्ध-गीत (Ballads) इन दो भागों में किया जा सकता है। गेय-गीत वे छोटे-छोटे गीत हैं, जिनमें कथावस्तु का प्रायः अभाव होता है। उनकी गेयता ही इन गीतों की आत्मा है। इस श्रेणी के गीतों में संस्कार, करु वाँर व्रत सम्बन्धी गीत आते हैं, प्रबन्ध गीत वे हैं जिनमें कथावस्तु की प्रधानता रहती है। उसमें गेयता भी होती है, लेकिन कथानक को बांगे बढ़ाने में जितनी गेयता बावश्यक है, उतनी ही उसमें पायी जाती है। श्री सूर्यकरण पारीक ने 'बैलेड' शब्द के लिए 'गीत-कथा' का प्रयोग किया है।

बैलेड (Ballad) कथवा लोक-गाथा की परिभाषा अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। न्यू इंग्लिश डिक्शनरी के प्रधान सम्पादक डा० परे ने बैलेड की पारमाण्डा देते हुए लिखा है कि 'बैलेड वह स्फूर्तिंदायक या उचेजना पूर्ण कविता है, जिसमें कोई जनप्रिय वास्त्वान रोचक ढंग से वर्णित है' २।

१. राजस्थानी लोक गीत - सूर्यकरण पारीक, पृ० ७८-८५
२. न्यू इंग्लिश डिक्शनरी, माग ३ - डा० परे, पृ० ३१०

डा० प्र्याग जोशी के शब्दों में - 'लोक गाथाओं की कार्यशाला लोक परम्पराओं की ज्ञान में स्थापित होती है, उसकेसम्यक् रूप को समझे बिना लोकगाथा को समझने की समग्र दृष्टि नहीं पाई जा सकती । प्रत्येक लोक अपने में एक इतिहास समेटे रहती है, लोक गाथा के पात्र प्रायः जन सामान्य के ही जीव के बारे पुराण, सती-नारी, आदर्श प्रेमी युगल आदि होते हैं । अपने सद्गुणों के उत्कर्ष से आदर्श स्थिति तक पहुंच जाने से इन पात्रों की सूति लोक मस्तिष्क पर सदा-सदा के लिए बंकित हो जाती है ।'

लोक-गाथाओं में जातीय संस्कृति के अनुठे चित्र विधान रहते हैं । ये युग विशेष की परम्पराओं, रीति-नोत्यों, क्षेत्र व्यापारों आदि का दिग्दर्शन करती हैं । इनमें जीवन की सांगोपांग अभिव्यक्ति रहती है । लोक गाथाओं में घटनाओं का सहज, यथार्थ, परम्परागत, अव्य एवं गतिशील वर्णन रहता है । इनके पात्रों में बासुरी दुर्गुण बल्य किन्तु दैवीय सद्गुण प्रमुख पात्रा में विधान रहते हैं । गाथा के नायक नायिका प्रायः उदाचुर गुणों से समावृत रहते हैं बाँर समाज के समझा एक अनुफ्रम आदर्श स्थापित करते हैं । लोक गाथाओं के अनेक मेद पाये जाते हैं । विषय वस्तु की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने लोक-गाथाओं का वर्गीकरण छलग-ब्ल्ला तरह से किया है । डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगाथाओं को तीन मार्गों में विभक्त किया है --

- (१) प्रेम कथात्मक गाथाएँ
 - (२) वीरकथात्मक गाथाएँ
 - (३) रोमांच-कथात्मक गाथाएँ
-

१. कुमाऊं गढ़वाल की लोक गाथाओं का विवेचनात्मक अध्ययन -
डा० प्र्याग जोशी, पृ० ८१
२. लोक साहित्य की मूर्मिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १४७

फ्रांसिस गूमर ने लोक गाथाबों का वर्गीकरण निम्नांकित प्रधान
क्षेत्रों में किया है --

- (१) प्राचीन गाथार्ड (Oldest Ballads) ये गाथार्ड आकाश, पृथ्वी और अंतरिक्ष से सम्बन्धित हैं। ये ग्रीक में बड़ी बारे सबसे प्राचीन हैं।
- (२) कौटुम्बिक गाथार्ड (Ballads of kinship) इन गाथाबों का सम्बन्ध कौटुम्बिक व्यस्त जीवन से है।
- (३) अलौकिक गाथार्ड (Ballads of the super natural) - इन गाथाबों में जादू-टोना, मूत, परी और अंधविश्वासों का प्रतिबिम्ब होता है।
- (४) पौराणिक गाथार्ड (Legendary Ballads) - इन गाथाबों का सम्बन्ध प्राचीन धार्मानां से है।
- (५) सीमान्त गाथार्ड (Border Ballads) - इनमें स्थानीय इतिहास की ख़ल़क के साथ सीमा सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन होता है।
- (६) बास्थक गाथार्ड (Greenwood Ballads) - ये व्यक्ति विशेष के नाम पर चलने वाली गाथार्ड हैं।

इस प्रकार लोक-गाथाबों का विमाजन बनेक तरह से हुआ है। गाथाबों के साथ एक बात जो सास रूप से जुड़ी हुई है, वह यह कि इनमें संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य होता है, किसी वाय विशेष के साथ या गायन के साथ-साथ झं-संचालन या नृत्य लोक-गाथाबों की प्रमुख विशेषता है।

(३) लोक-कथा

लोक-साहित्य के वर्गीकरण में लोक कथाओं का प्रमुख स्थान है। कथार्द प्राचीन काल से हमारे साहित्य को समृद्ध करती रही है, पूरा वैदिक साहित्य कथाओं से भरा पड़ा है। उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद में ऋषि शुनः शेष का बाख्यान, अपाला, बात्र्यो के नारी चरित्र और संवाद सूक्त में पात्रों का संवाद कथाओं की प्राचीन परम्पराओं की घोतक है। इन्हीं कथाओं में च्यवन, भार्गव और सुकन्धा मानवी की कथा मिलती है। ब्राह्मण गुरुओं में भी अनेक कथार्द उपलब्ध होती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में पुरुरवा और उर्वशी की कथा नितान्त प्रसिद्ध है। संस्कृत में लोक कथाओं का सबसे प्राचीन संग्रह वृहत्कथा है। 'फंतंत्र' और 'हितोपदेश' में नीति सम्बन्धी कथाओं का संकलन मिलता है।

कहना न होगा कि कथार्द हमारी परम्परा में बहुत प्राचीन है और आज तक वे लोक कथाओं के या अन्य कथाओं के रूप में हमारी वेतना में विद्यमान हैं। ये कथार्द विरकाल से हमारे जीवन का अंबन गयी हैं।

कथाओं के वर्गीकरण के बाधार मिन्न-मिन्न पाने गये हैं। शेली और विषय इनमें प्रमुख हैं। साधारण दृष्टि से वर्णनात्मक तथा अविच्छिन्नात्मक वो प्रकार की कथार्द मानी जाती हैं। लेकिन इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ प्राचीन और अचाचीन विद्वानों के पत का उल्लेख बावश्यक है। प्राचीन वर्गीकरण के बनुसार कथाओं को दो प्रकार से माना गया है -- (१) कथा-यानि जिसका जन्म कवि कल्पना हो, जैसे बाणभट्ट की 'कादम्बरी' तथा दण्डी का 'दशरथमार चरित'। (२) बाख्यायिका - इसका बाधार ऐतिहासिक इतिवृत्त होता है। जैसे बाण का 'हर्षचरित'।

प्राचीन वर्गीकरण के अतिरिक्त जाधुकि विषानी इरा भी कथाओं का वर्गीकरण किया गया है। डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-कथाओं का वर्णन इस प्रकार से किया है ---

१. उपदेश कथा
२. व्रत कथा
३. प्रेम कथा
४. मनोरंजन कथा
५. सामाजिक कथा
६. पौराणिक कथा

यद्यपि डा० सत्येन्द्र ने कहानियों को मुख्यतः (१) गाथार्द, (२) ऋवदान, (३) कहानियाँ - तीन भागों में बांटा है, तो भी साधारण दृष्टि से आपने कथाओं के बाठ भाग किये हैं^२ ---

१. गाथार्द
२. पञ्चपक्षी सम्बन्धी वधवा पंचतंत्रीय
३. परी की कहानी
४. विक्रम की कहानी
५. बुफ्फावल सम्बन्धी
६. निरीदाण गर्भित
७. साधु पीरों की कहानियाँ
८. कारण निर्देशक कहानियाँ

१. लोक साहित्य शी भूमिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १६१
२. ब्रज लोक साहित्य का वर्ध्यन - डा० सत्येन्द्र, पृ० ८३

लोक कथाओं में सार्वभौमिकता मिलती है। किंचित हेर-फेर के साथ देश-विदेश में स्कूटी सी लोक कथा भी भिन्न-भिन्न रूपों में प्रचलित मिलती है। लोक कथाओं की इस विशेषता के कारण इनके वर्गीकरण में साम्य भी स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

(४) लोक-नाट्य

यद्यपि रंगमंच बाँर नाटक शताब्दियों फूर्व से शास्त्रों का प्रतिपाद्य रहे हैं, लेकिन लोक-नाटकों की परम्परा भी कम प्राचीन नहीं है। लोक-रंगमंच लोक की अपनी वस्तु है। वह व्यवसायार्थ नहीं होता, इसके अलाएँ बवश्य होते हैं। लोक रंगमंच का नाट्य संगीतात्मक होता है। गेयता की इसमें प्रधानता रहती है, लेकिन इस गेयता का रूप शास्त्रीय नहीं होता है। यह सहज लोक-संगीत के तत्वों से युक्त होते हैं। नगाड़े जैसे लोक वाद्यों का इसमें उपयोग होता है। लोक से सम्बन्धित उत्सवों, बवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिन्युक्त किया जाता है। किवाह के बवसर पर अनेक जातियों में स्त्रियाँ बारात विदा हो जाने पर स्वांग का अभिन्युक्त करते हैं। बांदनी रात में बाल्कण्ठा परम्परागत अभिन्युक्त प्रस्तुत करते हैं।

मेद की दृष्टि से ढाँ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-नाट्यों को दो भागों में विभक्त किया है।^१

(५) प्रहसनात्मक - इसके बन्तर्गत किसी ऐसी घटना को अभिन्युक्त का विषय बनाया जाता हैजिसे सुन तथा देखकर दर्शक हँसते हँसते लोट-पोट हो जाय। इसमें त्रृत्य का अमाव रहता है।

१. लोक साहित्य की मुफिका - ढाँ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १८०

(२) नृत्य नाट्यात्मक - इस तरह के लोक-नाट्य वे हैं, जो किसी सामाजिक बथवा पौराणिक धटना को लेकर अभिनीत किए जाते हैं। इनमें संगीत, नृत्य तथा अभिन्न तीनों की प्रधानता होती है।

डा० सत्येन्द्र ने लोक नाट्य के चार मेद बताये हैं १--

- (१) नृत्य प्रधान
- (२) नाट्य हास्य प्रधान
- (३) संगीत प्रधान कथाबद्ध
- (४) नाट्य वातां प्रधान

डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने कनकजी लोक-नाट्यों का वर्णन करते हुए उन्हें दश भागों में विभक्त किया है २--

(१) रासलीला, (२) रामलीला, (३) स्वार्ग, तमाशा, (४) नीटकी, (५) करीरा, (६) माँड - महँत, (७) नट-काँतुक, (८) बहुरूप्या, (९) कठ-पुतली का लेल, (१०) बाँशिक लोक नाट्य - भगत, कीर्तन, जाट, दंडउति बादि।

इस प्रकार लोक-नाट्य कई रूपों में आज भी लोक-साहित्य को समृद्ध कर रहा है। लोक-नाट्य एक तरह से लोक का प्रतिबिम्ब भी कहा जा सकता है, क्योंकि बहुत सहज ही उसमें लोक की पारम्परीण अभिव्यक्ति होती है, वह किसी तरह की कृत्रिमता या तकनीक से दूर होता है। यदि उसमें कोई तकनीक

१. लोक साहित्य विज्ञान - डा० सत्येन्द्र, पृ० ४३६

२. कनकजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, पृ० १०६

होती हैं, तो वह लोक हो हैं।

(५) लोक-सुमार्षित

लोक-साहित्य के जिन विभागों की बचाँ पीछे हुई हैं, उनमें लोक-पानस के उस स्वरूप की प्रतिष्ठा मिलती है, जिस स्वरूप में लोक पानस अपनी अभिव्यक्ति निस्तार के साथ करना चाहता है और जिसमें उसका बान्तरिक, बानुष्ठानिक और पनोरंजन परक अभिप्राय निहित है। किन्तु ऐसा भी साहित्य है जिसमें अभिव्यक्ति का इतना विस्तारनहीं, और जिसका अभिप्राय कथा अथवा गीत की तरह किसी बात को बात के आनन्द के लिए कहने की प्रवृत्ति में कम मिलता है। किन्तु जिसमें बहुत सैक्षण्य में कुछ व्यवहार विषयक बातों को प्रकट करने की प्रवृत्ति विशेष होता है। जिसमें कथा तत्त्व बहुत लघु होता है अथवा नहीं भी होता है। ऐसी रचनाओं को लोक सुमार्षित की संज्ञा दी जा सकती है।

ग्रामीण या लोक जनता अपने दैनिक व्यवहार में जिन लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों, सूक्तियों आदि का प्रयोग करती है, वह सब लोक सुमार्षित कहलाता है। कृष्णदेव उपाध्याय ने तो लोरो, स्लेगीत आदि को भी लोक सुमार्षित के बन्तर्गत पाना है -- बच्चा जब छोटा होता है, उसकी पाता या धाय उसे पालने में सुलाकर लोटियाँ गती हैं। इन लोटियों का उद्देश्य पनोहर संगीत पंदा कर बालक को सुलाना है। बड़े होने पर बालक अनेक प्रकार के स्लेलों को स्लेलते समय विभिन्न गीत गाते हैं। जनता के जीवन में ये लोकोक्तियाँ पहेलियाँ, सूक्तियाँ, मुहावरे पालने और स्लेल के गीत बिखरे पढ़े हैं, अतः इनको लोक सुमार्षित का नाम दिया गया है।^१

लोक-साहित्य का अधिकांश भाग यथापि प्रकाश में वा चुका है, लेकिन अभी भी लोक-साहित्य बहुत कुछ बिखरा पड़ा है, जो प्रकाशित नहीं हुआ है।

जितना प्रकाशित हुआ है, उसे ही सुविधा के लिए वर्गीकृत किया गया है। उसे ही दृष्टि में रखकर लोक साहित्य के विभिन्न रूपों का सामान्य परिच्य ही ऊपर दिया गया है।

लोक-साहित्य और सामाजिक जीवन मूल्य

लोक-साहित्य उस समाज से सम्बन्धित है, जो किसपने आदिम संस्कारों के कारण नागरिक समाज से क्लग-भ्लग है। लेकिन उस वर्ग के बापसी फिरते तथा उसके जीवन से धनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। लोक साहित्य में उस लोक-समाज जिसे कि वह सम्बन्ध रखता है, आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुःख, बनुभूतियों आदि की वर्मिव्यक्ति कुछ इस तरह होती है कि वह यथार्थ और कल्पना के बप्रतिम सामंजस्य के साथ समाज में प्रवलित मान्यताएँ, विश्वास, मूल्य आदि को प्रत्यक्ष या परीक्षा रूप से प्रस्तुत करता है।

लोक साहित्य में जन-जीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं। सब तो यह है कि यदि किसी समाज का वास्तविक चित्र देखना हो तो उसके लोक-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। लोक कवि समाज को जिस रूप में देखता है, उसका उसी रूप में वर्णन करता है। अतः उसका वर्णन सत्य से द्वारा नहीं होता। इतिहास की बड़ी-बड़ी पोथियों में लड़ाई फ़गड़ों और संघर्षों का विस्तृत विवरण मिल ही मिल जाय, परन्तु समाज के यथात्थ चित्रण के लिए लोक साहित्यका बनुसंघान वाँछनीय ही नहीं, बनिवार्य भी है। लोक गीतों, कथाओं और गाथाओं में प्रुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, सान-पान और रीति-रिवाजों का सच्चा चित्र देखने को मिलता है। इन गीतों में जहाँ प्रेम और वात्सल्य का वर्णन होता है वहाँ विरोध और संघर्ष का भी चित्रण हुआ है। हजारी प्रसाद छिकेदी ने तो यहाँ तक कहा है -- 'ग्राम-गीतों का महत्व उनके काव्य सीन्य तक ही

सीमित नहीं है। इनका स्क बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है - स्क विशाल सम्यता का उद्धाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूब गयी या गलत समझ ली गयी ।^१ कहने का आशय यह है कि लोक में व्याप्त जितने पी आचार-विचार, रीति-नीति या मूल्य हैं, वे लोक-साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं । अब सामाजिक जीवन-मूल्य की चर्चा पी आवश्यक है, जो लोक साहित्य में बनायास हो अभिव्यक्त होता है ।

८७२
१८८
८८८

जीवन-मूल्य के लिए 'बाटं बाफ लिविंग' या 'वे बाफ लिविंग' ही नहीं है, बल्कि उसमें स्क और जीवन में काम बानेवाले उप्योगी तत्त्व निहित होते हैं, वहों द्विसरी और हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक, आचार-संहितार्थ पी निहित होते हैं ।

सम्यता तथा संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं । जब यह क्रिया उप्योगी लक्ष्य की ओर गतिशान होती है, तब सम्यता का जन्म होता है और जब वह मूल्य चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर बग्रसर होती है, तब संस्कृति का उदय होता है । संस्कृति का सम्बन्ध मानव के उन क्योंकितक और सामाजिक कार्यों की अभिव्यक्ति है, जिनके द्वारा मानवता को पशुत्व से मुक्ति मिलती है ।

सौंदर्य में 'किसी देश या समाज में विभिन्न जीवन व्यापारों, सामाजिक सम्बन्धों और मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्त्वों की समष्टि को संस्कृति कहा जा सकता है ।

१. जनपद - लोक साहित्य का अध्ययन - हमारी प्रसाद छिवेदी,

पृ० ५५

DISS
Y; 351-445237 N
152 NI



असल में संस्कृति जिन्दगी का हो एक तरीका है और यह तरीका सद्व्यर्थों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिससे हम जन्म लेते हैं। व्यापक अर्थ में पानवीय जीवन यापन की समग्र व्याख्या को संस्कृति समझा जा सकता है। इसमें ज्ञान, विश्वास, शिल्प कलार्द, बर्धकलार्द, भौतिकता, न्यिम, रीति रिवाज तथा वे सभी वन्य योग्यतार्द समाविष्ट हो जाती हैं जिन्हें व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते ग्रहण करता है। संस्कृति को ही समानान्तर रूप से हम उस समाज के जीवन-मूल्यों से सन्दर्भित कर सकते हैं, जिससे सम्बन्ध है।

जीवन-मूल्य उ ही संस्कृति को इतिहास से पृथक करते हैं। इतिहास कालक्रम की चेतना है, जबकि संस्कृति काल के माध्यम से कालातीत होने की प्रक्रिया है, जो मूल्यों के बागे बढ़ने की सम्भावनाओं पर हो दृष्टि किसित होती है। संस्कृति जीवन मूल्यों के विकास की सम्भावनाओं को जीवित रखने की प्रक्रिया है, इसोलिए जीवन-मूल्यों की चर्चा करते समय संस्कृति के स्वरूप को व्याख्यायित करना बावश्यक था।

मूल्य व्यक्ति कृत की अपेक्षा कहाँ अधिक समाज ढारा बारोपित होते हैं। सामाजिक दृष्टि से मूल्यों को उस निकष पर परखा जाता है, जिसके ढारा समुदाय या समाज, व्यक्तियों, पद्धतियों, उपलब्धियों तथा वन्य उद्देश्यों का निर्णय करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि निश्चित उद्देश्य जो समाज में व्यक्तियों ढारा निर्णीत किये जाते हैं - सामाजिक मूल्य कहलाते हैं, साथ ही मूल्य एक सेषा प्रापदण्ड है, जो सम्पूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्व प्रदान करता है। परस्पर सामाजिक सम्बन्ध के कारण व्यक्ति का व्यक्ति से एवं समाज से धर्मिष्ठ नाता होता है। और इसी के फलस्वरूप उसका उन-

पर क्षिरण हैं सर्व उन्हें कायांन्ति करने के लिए सामाजिक मूल्य सहायक हैं ।

डा० हुकमचन्द ने जीवन मूल्यों की चर्चा करते हुए लिखा है --
 'सामाजिक दृष्टि से जीवन-मूल्यों को सामान्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है -- क्यकिंतक मूल्य सर्व सामाजिक मूल्य । वस्तुतः वैयक्तिक सर्व सामाजिक मूल्यों को दो भागों में विभाजित करने पर इनके प्रभ्य कोई रेसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वैयक्तिक मूल्यों को जब व्यक्ति की सीधा से परे समाज में देखने का प्र्यास किया जाता है, तो वही मूल्य सामाजिक मूल्य कहलाते हैं ।' वस्तुतः हमारा सम्पूर्ण जीवन 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' हन दो सीधार्थों से सम्बद्ध रहता है, जो हैं वह तथ्य है, तो जो होना चाहिए वह मूल्य है । जीवन के संर्द्ध में यही बात है कि हमारा जीवन संकेत 'है' की स्थिति से उठकर 'होना चाहिए' की उफलव्य की ओर बढ़ता है और इसी के मूल में जीवन की जो गतिशीलता कार्य के रूप में वर्णित होती है, उसे ही मूल्य कहा जा सकता है ।

सामाजिक जीवन-मूल्यों के बनने में जहाँ स्क और देशकाल तथा बाति विशेष की पौराणिक कथाएं, धार्मिक विश्वास प्रभाव डालते हैं, वहीं दूसरी ओर मान्त्रिक परिस्थितियाँ भी उसकी कारक होती हैं ।

लोक-साहित्य ऐसा साहित्य है जिसमें सामाजिक जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति बात्यन्तिक रूप से होती है । लोक-साहित्य के अध्ययन से सम्बद्ध लोक समाज के मूल्य, मान्यताएं, विचार और संस्कृति का परिचय आसानी से प्राप्त किया जा सकता है । क्योंकि उसके निर्माण में किसी तरह का बोटिक प्र्यास नहीं होता, बल्कि लोक-साहित्य में लोक-हृदय की सहज अभिव्यक्ति है ।

१. बाधुनिक काव्य में जीवन जीवन मूल्य - डा० हुकमचन्द राजपाल,

लोक साहित्य का विकास-क्रम और गढ़वाली लोक साहित्य

यदि यह कहा जाय कि 'लोक-साहित्य' उतना ही प्राचीन है जितना मानव, तो कोई बत्युक्ति न होगी। क्योंकि लोक साहित्य ऐसा साहित्य है, जो मनुष्य की आदिम अभिव्यक्ति और कार्य-व्यापारों से जुड़ा हुआ है। बतः मनुष्य जब अस्तित्व में आया, तब उसने अपने सुख-दुःख, हर्द-उल्लास और प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धों को जिन रूपों में व्यक्त किया, वही साहित्य बन पड़ा। उसके बाद जब मनुष्य कुछ विकसित हुआ, तब समाज में एक व्यवस्था और शिष्ट संस्कृति की बावधकता पड़ी। बतः शिष्ट साहित्य की रचना हुई।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से भी पता चलता है कि वैदिक युग से ही भारत में साहित्य की दो धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं -- एक शिष्ट साहित्य की, दो लोक साहित्य। इसे यूँ मी कह सकते हैं कि ये दो संस्कृतियाँ समानान्तर रूप से विकसित हो रही थीं, शिष्ट साहित्य से मेरा तात्पर्य उस अभिजात साहित्य या संस्कृति से है, जो बोंदिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंचा हुआ था। जो अपनी प्रतिभा के कारण कृष्णी और पथ-प्रदर्शक था तथा जिसकी संस्कृति का छोत वेद या शास्त्र था।

लोक-साहित्य से तात्पर्य जन साधारण की उस संस्कृति से है, जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करता था। वह बोंदिकता के उस धरातल पर स्थित थी, जिसमें सामान्य जन की जाकर्दाबों और इच्छाबों की जन-भाषा में अभिव्यक्ति होती थी जिसमें जटिलता कम और भावात्मकता अधिक होती थी।

ये दो साहित्य दो संस्कृतियाँ की अभिव्यक्ति हैं। लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों,

बनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिवय के लिए दोनों संस्कृतियों का वर्धयन बपेदित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद कुर्वेद का पूरक है। ये दोनों संक्षितारं दो संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायक हैं। अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है, तो कुर्वेद शिष्ट।

उपनिषद् काल में भी दोनों संस्कृतियों स्पष्ट रूप से विष्मान थीं और लोक साहित्य तथा शिष्ट साहित्य उन्होंना प्रतिनिधित्व कर रहा था। जिन उपनिषदों में आत्मा, परमात्मा, जीव, ज्ञात, ब्रह्म आदि का वर्णन है, वे अभिजात संस्कृति के ग्रन्थ हैं। परन्तु जिनमें लोक जीवन का वर्णन है, लोक विश्वास तथा लोक परम्पराओं का उल्लेख है, उन्होंना सम्बन्ध निश्चय ही लोक संस्कृति से है। गुह्य सूत्र ऐसे ही ग्रन्थ माने जा सकते हैं। पालो जातकों में भी लोक संस्कृति का सजीव विवरण किया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि शिष्ट साहित्य के समानान्तर ही लोक-साहित्य भी प्रवाहित होता रहता है। लोक-समाज में परिवर्तन के साथ-साथ उसमें भी किंचित् परिवर्तन आता जाता है और उसकी यात्रा मानव के साथ समान रूप से चलती रहती है।

गढ़वाली लोक साहित्य के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि वपने नेसर्गिक प्रवाह के कारण जाज जिस रूप में वह उफलव्य होता है, उसमें कई शताव्यों का इतिहास और संस्कृति की गतिसान धारा समाहित है। गढ़वाल की ऐतिहासिक परम्परा में यज्ञ, किन्नर, नाग, किरात, कोल, लश, बायं आदि अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है तथा यहाँ की भाषा और संस्कृति पर सभी अपना थोड़ा बहुत प्रभाव छोड़ गये हैं। यहाँ के लोक-गीतों और लोक गाथाओं में अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनसे इस बात

की पुष्टि होती है कि कमां गढ़वाल में ये लोग रहे थे ।

गढ़वाली लोक साहित्य का अंग बहुत कम भाग प्रकाशित हो पाया है । बनेक ऐसी गाथाएँ बारे कथाएँ जो विशरी पढ़ी हैं, जो गढ़वाली संस्कृति के अध्ययन में अत्यधिक सहायक हो सकती हैं ।

द्वितीय अध्याय

गढ़वाली लोक-गाथाओं में बपिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य

गढ़वाली लोक-गाथाएँ का सामान्य परिचय

गढ़वाली लोक गाथाएँ गढ़वाल के लोक साहित्य की बड़ाय धरोहर हैं, लेकिन आज जिस रूप में वे उपलब्ध हैं, या तो विशेष बनुष्ठान विषयक सन्दर्भ बन गई हैं या लुप्त होती जा रही हैं। इनमें धार्मिक, पौराणिक बागर गाथाएँ, पूजा घटियाला के अवसर पर जागरी पुरोहितों के द्वारा देवता का बाह्यान और नर्तन के लिए गायी जानेवाली गाथाएँ बादि सभी तरह की गाथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त बावजी - बागजी बथवा पुराने चंफ़्या हुड़क्या भी ये गाथाएँ गाते हैं। बावजी वादक ढोल द्वाऊ बजाते हुए देवता की पूजा में इन गाथाओं के माध्यम से किसी विशेष व्यक्ति पर देवता का प्रवेश कराकर उसे क्वाते हैं तथा वैत्र मास में सवणी के घर छार में गाथाएँ गाते हुए स्कर्य भी नाचते हैं। इन लोक गाथाओं के गाने वाले वर्ण-विषय और जाति के बनुसार भिन्न-भिन्न वायों का प्रयोग करते हैं, बावजी लोग साधारणतः ढोल द्वाऊ बजाते हैं। देवता की पूजा के अवसर पर जागरी पुरोहित जिस वाय का प्रयोग करता है, उसे घटियाल कहा जाता है। डमरू और थाली के साथ समवेत वाय वादन को घटियाल कहा जाता है। जागरी डालण प्रायः देवता भूत-प्रेत बथवा बाँझरियों (परियों) की मनाँती की गाथा ही गाता है। बावजी (हरिजन) देवताओं के अतिरिक्त चैत के महोने में धैती-गाथाएँ गाते हैं।

रचना-काल की दृष्टि से गढ़वाली लोक-गाथाएँ बहुत प्राचीन हैं। जागर पूजा की परम्परा गढ़वालके बादिम निवासियों से सम्बन्धित है।

जागर गाथाओं में राम, कृष्ण, देवी, कद्म-बनिता, पाँडव, गोरील, निर्कार (निराकार) रमोळ बादि कहे धार्मिक और प्रामाणिक गाथाएँ सम्प्रिलित हैं, जो सभी ऐसे ही काल में तो नहीं रखी गयीं, लेकिन सम्यान्तर में कई गाथाएँ जुड़ती चली गयीं। वीरों को देवता के रूप में पूजने की प्रजा बाद में शुरू हुईं जिनकी शुरूआत मध्यकाल में हुई। डॉ गोविन्द चातक ने ऐसी गाथाओं का समय ८०० ई० से १७०० ई० माना है।^१

लोक गाथाएँ केवल गातात्मक काव्य नहीं हैं, बल्कि उनमें संस्कृति और इतिहास के वे बिन्दु भी होते हैं, जो एक सामाजिक सम्यता के निर्माण के मूल में होते हैं। इसलिए वहाँ कमी-कमी कात्पक्षि घटनाएँ ऐतिहासिक रूप ले लेती हैं तो कमी ऐतिहासिक घटनाएँ कल्पनाजन्य अभिव्यक्ति के रूप में उस समाज विशेषा की झूजनात्मक भावना की पहचान बन जाती है। इसलिए उनका प्रामाणिक और अप्रामाणिक होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उनके पीछे की वे पान्यतारं या मूल्य, जो गाथा विशेष में अन्तर्गतित होते हैं।

पाँसिक परम्परा में जीवित कथाओं के इतिहास की छाया को प्राचीन युग में देखा जा सकता है किन्तु पाँसिक परम्परा में जन-सामान्य की ऐसे लोक कथाएँ प्रत्येक युग की छाप लेकर इतिहास को कल्पना के धुर्खलेआवरण में छिपाकर न जाने कितने युगों से प्रवाहित होतों चली जा रही हैं। इन गीत कथाओं में युग का प्रमाव व्यंजित अवश्य होता है, किन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति में किसी भी प्रकार का बन्तर नहीं आने पाता। विगत में समाज की

१. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमाल्य - गोविन्द चातक, पृ० २४४

सरल व्यवस्था एवं कृष्ण जीवन में व्याप्त वेदना, विपचि एवं शोक की जो मावनार्द बनुभव की गयी हैं, उन्हां बामास हन गाथाओं में देखने को मिलता है। इन गाथाओं में जीवन के संघर्ष, ज्य, पराज्य एवं उत्साह के स्वर भी मिलते हैं।

लोक रुचि ने अपनी मावनाओं को बद्धाण्ण रखने के लिए इतिहास का बाधार अवश्य ढूँढ़ा है - किन्तु असाधारण पुरुष से सामान्य व्यक्ति का सम्बन्ध जोड़ने की वेष्टा में युगों-युगों के तीव्रगमी प्रवाह में जन-मानस की स्मृति इतिहास को सुरक्षित रखने में सतर्क न रह सकी एवं शर्नः शर्नः इतिहास और व्यक्ति के नामों में कल्पना मिश्रित हो गयी। इन गाथाओं में घटना, कथा-वस्तु और पात्र, धार्मिक विश्वास और जन्मान्तर की मनो-वैज्ञानिक अभिव्यक्ति के साधन तो होते हों हैं, जीवन यापन करनेकी विधि एवं गाँरकम्य जीवन निर्माण कर जीवित रहने का मार्गदर्शन भी होता है।

गढ़वाली लोक गाथार्द जीवन की विभिन्न घटनाओं को लेकर रची गयी हैं। इनमें वीर पूजा का माव भी सुरक्षित है, जहाँ मान्त्रीय माव, विकास एवं सहज आदिम स्वरूप देखा जा सकता है, वहों पध्यकालीन कूरता एवं ध्वस्त संस्कृति के बवशेष मी देखे जा सकते हैं। इसके साथ ही महाकाव्यों एवं प्रबन्ध काव्यों के विचित्र रूप का प्रारम्भिक एवं मूल स्वरूप इन लोक-गाथाओं में दृष्टिगोचर होता है।

विषय वस्तु और परम्परा के बाधार पर गढ़वाली लोक गाथाओं को निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है --

हरिदर्च भट 'इलेश' का वर्गीकरण^१ --

१. लौकिक गाथार्द (फंडाहा)

२. पौराणिक गाथार्द (जागर)

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदर्च भट्ट 'इलेश', पृ० १८०

लोकिक गाथाओं के में उन्होंने दो विभाग किए हैं --

(क) वीर गाथार्

(ल) प्रेम गाथार्

पौराणिक गाथाओं को तीन भागों में बांटा गया है --

(क) कृष्ण सम्बन्धी गाथार्

(ल) स्थानीय देव गाथार्

(ग) पांडव सम्बन्धी गाथार्

डा० मोहनलाल बाबुलकर का वर्णकरण^१ --

डा० मोहनलाल बाबुलकर ने गढ़वाली लोकगाथाओं को विषयवस्तु तथा आकार एवं गायन पद्धति को मिन्नता के बाधार पर अलग-अलग वर्गीकृत किया है।

(क) विषयवस्तु के बाधार पर

१. देवगाथार् (जागर, वर्ती, बाजे)

कृष्ण चरित्र	निरकार	पंडी
रुक्मणी	गरुडासान	बर्जन नागलोक-
वन्द्रावली	भैरों, नरसिंह	कथा
शिवपार्वती	हस्ता, बाँधरी	मोप
बैकुरठ चतुर्दशी	देवा,	न्युल सहदेव द्रोपदी कुंती

१. गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० मोहनलाल
बाबुलकर, पृ० ६०

२. लोक गाथार्द

॥

१.		
रेतिहासिक	रेतिहासिक -	वीरांगनार्द
पुरुष	बनंतिहासिक	जोसर माला
।	स्थानीय पुरुष	पत्थर माला
१. पानसाह		भृथान माला
२. अज्यपाल	सुरघ्न कुंवर	चन्द्रावती
३. पालूसाही	कफू वीहान	सुरमा
४. जगदेव	गदू सुम्पाल	सुख कुम्णा
५. राजा प्रीमदेव	कालू घण्डारी	नीरंगी राजुला
	मालू रज्वा	बरुणा
	बरमी कँलि	बमरावती
	जीतूवमद्वाल	
	हंसा कुंवर	
	गंगू रमोला	
	रणू रंत	
	घामदेव	
	मानु पर्फिला	
	हिंहा हिंडवाण	
	ताटि ।	

(ख) बाकार एवं गायन पद्धति के बाखार पर

देव गाथार्

|
|
|

कृष्ण रुक्षणी (प्रबन्ध गीत)	रुक्षणी चन्द्रावली (प्रबन्ध गीत)	मैरों, नरसिंह बंच्छरी, नागर्जा,
पण्डो (प्रबन्ध गीत)	श्व पार्वती (प्रबन्ध गीत)	हंत्या, नगेला, मुम्याल
निर्कार (प्रबन्ध गीत)	गरु ढासन	बिनसर।
	(प्रबन्ध गीत)	

ठाठ गोविन्द चातक का वर्गीकरण^१ --

१. जागर गाथार् (जिन्हें धार्मिक गाथार् मी कहा जा सकता है)
२. पंवाड़े अर्थात् वीर गाथार्
३. प्रणय गाथार्
४. चेतो गाथार् (चेत्र मास में आवजोयों द्वारा गायी जाने वाली गाथार्)

वर्ष्य विषय की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण की गाथार् बहुत मिन्न नहीं हैं। अन्तर केवल भावना का है। उदाहरण के लिए प्रणय, ऐसा तत्व हैंजिसका समावेश धार्मिक गाथाओं, वीर गाथाओं तथा चेतो गाथाओं सभी में कमोवेश मिल जाता है। किन्तु धार्मिक गाथाओं का मुख्य केन्द्र धर्म

है, प्रणय नहीं। इसी प्रकार वोर गाथाबों में प्रणय के प्रसंग बातें हैं, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य वीरता का चित्रण है, यही बात खेती गाथाबों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि वे मुख्य रूप से नारी के उत्पीड़न, पायके की याद आदि भावों को व्यक्त करती हैं।

गुरुवाली लोक गाथाबों में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य

सामाजिक जीवन-मूल्यों को जब हम बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय उस विशेष समाज की सामूहिक पार्वताओं और विचारगत सम्बन्धों से होता है जो किसी विशेष मूल्यांग में अपनी परम्पराओं और संस्कारों के बलते समुदायिक रूप में रह रहा है। हर समाज के अपने ऐतिहासिक दायित्व, अपनी आचार पद्धति और जीवन-मूल्य होते हैं, जिन पर वह टिका होता है। इसमें समाज व्यवस्था की ही नहीं सामाजिक पर्यावरण की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज और संस्कृति व्यक्तियों में समय-समय पर अपने अनुरूप कई स्थायी भाव विकसित करते हैं। इससे सहज प्रवृत्तियों के उन्नयन पर बल देते हुए सामाजिक मूल्यों और वर्जनाओं को निर्धारित करने का प्रयास कई लोक गाथाबों में हुआ है। डा० गोविन्द वात्कृ के शब्दों में - 'जिन लोक-गाथाओं में ऊंचे आदर्शों पर बल दिया गया है, वह थोपी हुई वस्तु नहीं, बल्कि समाज की परीक्षण प्रक्रिया का ही एक ऊंचा है।' नारी को भगाकर ले जाने की अपेक्षा उसके लिए लहूना हो मध्यकालीन आदर्शों और इस बादशंकी की प्रेरणा देने वाली स्वर्यं नारी थी। ब्रह्म कुंवर जब पत्थरमाला का अपहरण करने के लिए नागभूमि में पहुंचता है तो वह उसे नाग की अनुपस्थिति

में भाग चलने का परामर्श देता है, किन्तु पत्थरमाला उसे अपनी बात से निरुचर कर देती है। 'नारी और कर नहीं ले जायी जाती' ।

एक बन्ध गाथा में उन्मर और सामाजिक प्रेम की कथा है, इस गाथा में विलास ही साध्य होने के कारण उसका दुष्परिणाम दिलाया गया है -

'बावरो नि द्येद्व जोत्रु नि होद्व विणास' १

बन्ध गाथाओं की अपेक्षा पंवाड़े सामाजिक और राजनीतिक जीवन का अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुतः मध्ययुग जबकि पंवाड़े ऐसे गये सूखीरता का और प्रतिष्ठन्हिता का युग था, और शीर्य के सारे बादशं पुरानी बानबान, कुल के अहंकार, पीढ़ियों से बले बाते वैमनस्य, राज्य लिप्सा और सुन्दरियों के रूपाकर्णण से परिचालित थे। मध्यकालीन बादशाहों में नारी के सतीत्व को भी महान बादशं समझा जाता था, सभी स्त्री के सतीत्व को युद्ध में पुरुष का रक्षक भी समझा जाता था -

हे जिया, मैं पा सच्ची बात बोल ।

बु मैं अपना माता पिता कु छुंज त रण पाँ जाँदू ।

जु मैं तन्ने छुंज त मारेण कु नी जाँदू ॥ २

लोक का सबसे बड़ा बादशं सम्बवतः समाज में एक द्वुसरे के लिए, एक द्वुसरे के साथ जोने में निहित है। इसी आदर्श को लेकर कई गाथारं सामुदायिक जीवन के बीच ऊभरी हैं, इसलिए गढ़वाली लोकगाथाओं में पारस्परिक सहयोग और सामाजिक सम्बन्धों पर व्याप्त प्रकाश पड़ता है।

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदर्च मट्ट 'श्लेष', पृ० १८८

२. मारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमाल्य : गोविन्द चात्क, पृ० ३०६

इन लोक गाथाओं में युग और समाज का संगोपांग चित्र मिलता है। उनमें स्क और मानव की अलौकिक निष्ठा, वीरता, साहस, बलिदान, प्रेम और उदारता का उज्ज्वल पदा वर्णित हुआ है, द्वसरी और हँस्याँ, देषा, कलह आदि मानव हृदय के दुर्बल पदाँ तथा सामाजिक अनावाराँ का समान रूप से यथार्थ चित्रण भी हुआ है। जिन पाँराणिक गाथाओं में रोपानी तत्त्व का समावेश हुआ है, उनसे समाज की रसिक प्रवृत्ति का आभास मिलता है किन्तु विलास की अतिवादिता का पदा उस मोगवादी संस्कृति की ओर संकेत करता है, जो बहु विवाह जैसे ध्वस्त मूल्यों को नैतिकता का आवरण पहनाकर समाज की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है।

सामाजिक विषयता, अमाव और आचारगत कठोरता लोक जीवन को वास्तविकता के साथ सहज सम्पूर्णित के रूप में हन लोक-गाथाओं में स्थान पा गये हैं। स्क और जहाँ अकाल पोड़ित निष्वर्ग की विवशता, देन्य और भूल का वर्णन है -

हिंदवाणी कोट माँ कन तराँ है मचीगे
रोंदा हन बबाराँदा मूखन नाँना
देखी - देखीक जिहुड़ी चिर्दी ।^१

+ +

खिमसारी स्ट माँ पढ़ी अकाल
तड़पी-तड़पी परीन लोग ऊड़ सा माछा
स्वागीण राँ हवेन, कोली माँ परीन बाला,
ज्वानि नि शुच्याँ कैन जिन्दगी नी मोगी ।^२

१. 'मानु पाँफिलो' गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य -

हरिदत्त भट्ट 'श्लेष', पृ० २०८-२०९

२. गढ़ सुम्याल गाथा - वही, पृ० २१६

वहीं द्विसरी बोर सेठ, साहूकार या सामंतों की विवशता जन्य स्थिति पर भी कटाड़ा किया गया है। क्काल की भ्यक्ति विवशता के बावजूद भी हिंसा हिंडवाण अपने सामंतों अहं को नहीं छोड़ पाता और जब उसकी ऐश्वर्य और विलास की आवश्यकतार्द पूरी नहीं होतीं तो वह साधारण जीवन जीने के बजाय स्वर्य के साथ अपने परिवार को विष्ट देकर मार डालता है।

बढ़ो बादमी शःयो हिंसा हिंडवाल
वैकु शरम ऐगे, बपणा बांसु पीगे,
कैमु अपनी विपता क्या लाण
कैमु मीन अब पंगणक जाण ?
मिठो ज़ेर डालो, दिने बरीस कुटु
तन बरीसो कुटुम बैक स्वर्गवास हवेगे।^१

झसी गाथा में सामन्ती मूल्यों के पराभव के सर्केत भी मिल जाते हैं। हिंसा हिंडवाण का पुत्र मानु मफिलों जब मामा के घर से लौटता है तो अपने पूरे परिवार को मृत पाकर उसे मिथ्या अहं के प्रति विवृष्णा होती है और वह अपने राजसी जीवन को छोड़कर सुजू का नौकर बनने को तैयार हो जाता है --

बणाये मालू की फगुली, मालू की टोफली
तब उतार्या वैन राजा क कपड़ा
छोड़याली तब वैन हिण्डवाणी कोट ।

+ +

१. मानु मफिलो गाथा - गढ़वाली माषा बाँर उसका साहित्य - हरिदच मट्ट 'श्लेषा', पृ० २०८

किस्मत कू पारो छुं विपता को हारो
आज वर्ष्युं छुं तेरो धास कारदारो ।^१

गढ़वाली लोकगाथाओं में धार्मिक विश्वास, राजनैतिक-मूल्य और लोक ऐप्रेचलित संस्कृति के अंश अपनी सम्पूर्ण स्कान्धिति के साथ लोक-जीवन की व्याख्या करते हैं। कहीं जनैतिक सम्बन्धों को धार्मिक स्वीकृति देकर उसे नैतिक बनाने की कोशिश होती है, तो कहीं परम्परागत पान्यताओं की उद्भावना लोक के सरल बाँर निष्कपट जीवन की फाँकी प्रस्तुत करती है। 'रुक्षणी चन्द्रावली' गाथा में रुक्षणी चन्द्रावली तक पहुंचने के लिए कृष्ण को 'फेक्वाल' बन जाने के लिए कहती है। योगी या महात्मा नहों, बल्कि जनपदीय परम्परा का फेक्वाल, जो सीधे-सीधे चन्द्रावली तक पहुंच सकता है।

दरअसल फेक्वाल लोक जीवन में स्त्रियों के अधिक निकट पाये जाते हैं। हाथ देखना, मान्य बताना, पति के विषय में पूछना, सभी विषयों पर फेक्वाल स्त्रियों को बताते हैं। जनपदीय बैण्टी (बहिन) शब्द का प्रयोग कर फेक्वाल स्त्रियों के बोच स्वतंत्रापूर्वक बा जा सकता है।

इन गाथाओं में मध्यकालीन मूल्यों की ही अधिकारीकृति हुई है। लेकिन समय के साथ लोकानुमव बाँर बाद के अनेक धार्मिक, राजनैतिक प्रमाव मी इन गाथाओं में झुड़ गये हैं। जान पढ़ता है कि उच्चरी भारत की ऐसी लोक गाथाओं का निर्माण अधिकतर उस युग में ही हुआ होगा जब बाहर से आकर मुस्लिम जाति अपना प्रमाव कृपशः जाने लगी थी बाँर यहाँ की राजनीति एवं सामाजिक स्थिति में उथल-पुथल थी। स्थानीय बोलियों ने भी ऐसी ही

१. मानु भैफिलो गाथा - गढ़वाली भाषा बाँर उसका साहित्य - हरिदर्श भट्ट 'श्लेष', पृ० २०६

अवसर पर अपना कार्य प्रारम्भ किया और उनमें लोक साहित्य का निर्माण होने लगा। इसीलिए हम देखते हैं कि उफलव्य रचनाओं के वर्ष्ण-विषय, जहाँ तक वे सामाजिक और सांस्कृतिक बातों से सम्बन्ध रखते हैं, अधिकतर वे ही हैं, जो पारंतोय इतिहास के मध्यकालीन युग के बनुकूल हैं।

वर्गत, जातीय और पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप

गढ़वालियों का सामाजिक जीवन सब का एक समान, एक रूप से विधान नहीं है। गढ़वाल के प्राचीन निवासियों अर्थात् 'खसिया' और 'डोम' (हरिजन) जातियों का अपने ढंग पर और ब्राह्मणों व दात्रियों का अपने ढंग पर पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि लौकिक रिवाजों की वास्तव में कुछ लिचड़ी सी प्रतीत होती है परन्तु धार्मिक रिवाज कुछ पृथक्ता रखते हैं, परं वर्ष ५० हरिकृष्ण रत्नाङ्को ने इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है -- 'ब्राह्मण व दात्रियों में नाम कर्म, जात कर्म, बन्न प्राशन, उपनयन संस्कार, वेदविहित होने का रिवाज है। जब तक लड़के का उपनयन न हो जाय और लड़की का विवाह न हो जाय, तब तक उस लड़के या लड़की के हाथ से भोजन नहीं किया जा सकता। परन्तु खसिया आदि जातियों में असंस्कृत लड़के, लड़कियों के हाथ से भोजन करने अथवा एक साथ चौके में बैठकर भोजन करने का कोई निषेध नहीं है।'

वहाँ के निवासी 'डोम' को छोड़कर सब कृषक हैं। कैसे वे भी मुख्यतः अपनी कला और शिल्पगत सेवा से जीविका उपार्जित करते हैं और साथ ही कुछ न कुछ खेतों का कार्य भी करते हैं, फलतः गढ़वाल की सभी जातियाँ एक से वातावरण, रहन-सहन और आर्थिक परिस्थितियों के बच रहते हैं।

रहते हैं। इसलिए आर्थिकबाधार पर गढ़वाली समाज में आत्यन्तिक विषयता प्रतीत नहीं होती है। इसका एक और कारण यह भी हो सकता है कि वहाँ पर जमींदारी प्रथा का न होना और औद्योगिक पूँजीबाद की आर्थिक जीवन में दुर्संपूर्ण नहीं है। बतः सम्पर्चि और व्यवसाय पर बाधारित प्रतिष्ठा गढ़वाली लोक समाज में नगण्य ही है।

प्रतिष्ठा का आधार कुल जाति और वैवाहिक सम्बन्ध मात्र है और परस्पर नाते-रिश्तों की वहाँ पर सामाजिक जीवन के रूप में काफी अहमियत है। वहाँ के ब्राह्मणों, राजपूतों और हरिजनों में न जाने कितनी पीड़ियों से बोलचाल के रिश्ते बढ़े जा रहे हैं। ब्राह्मण जब इतिहासों और ढोम (हरिजन) को चाचा, पाई, ताई बादि सम्बोधनों से सम्बोधित करता है तो वह स्क पूरी सामाजिक पान्यता को भी प्रस्तुत करता है। वास्तव में समाज के सामुदायिक सूत्र इसी प्रकार की आत्मीयता से निर्भित होकर गढ़वाली समाज के गठन में युगों से प्रवेश किए हुए हैं।

सामन्तों व्यवस्था में जो थोकदार, प्रधान और हिस्सेदार होते थे, वे उच्चवर्ग में ब्रवश्य गिने जाते थे, लेकिन उनकी प्रतिष्ठा ओहदे के कारण ही अधिक समझी जाती थी। मालगुजारी वस्तुलने के लिए उन्हें कुछ जमीन दे दी जाती थी, जो कर मुक्त होती थी। थोकदार न्याय और व्यवस्था भी संभालता था।^१ राजाओं और सामन्तों का वीभत्स रूप यत्र-तत्र ब्रवश्य मिलता है, लेकिन वर्गीय-विरोध की प्रवेष्टा निष्ठ वर्ग द्वारा किया जाना गढ़वाली लोक-गाथाओं में नगण्य ही है।

गढ़वाली समाज की संरचना वर्ण और जातीय व्यवस्था पर बाधारित है। ब्राह्मण, राजपूत और सूड (ढोम) सभों का स्थान हिन्दू वर्ण व्यवस्था

के बनुसार ही समाज में नियाँरित हैं । गढ़वाल में शुद्ध प्रायः लोहार, बाँजी और हत्थिया का काम करते हैं । व्यापार की न्यूनता के कारण गढ़वाल में वैश्य जाति की संख्या बहुत कम है । जाति के बाधार पर ही गढ़वाल में सामाजिक पहचान होती है । धार्मिक ऐक्य के बावजूद गढ़वाली समाज में अनेक ऐसे बन्तविरोध हैं, जो स्पष्टतः ऊँच-नीच की भावना और संकीर्ण जातीय प्रृत्यर्थों के संरक्षण को प्रश्न ही नहीं देते हैं, बल्कि पानवीय सम्बन्धों के प्रति निष्ठा के भाव को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हानि भी पहुंचाते हैं । उच्च जाति के देवताओं की पूजा ढोप (हरिजन) नहीं कर सकते, क्योंकि वे छूत समझे जाते हैं, प्रबलित विश्वासों के बनुकूल जनपद ने सगुण उपासना को अपनी मेदभाव की नीति के कारण अवणाँ के लिए प्रायः बन्द कर दिया । समाज के हासिये में स्थित येलोग इतने उपेक्षित थे कि इनके घर जाना भी धर्म के सिलाफ समझा गया -

वै जोगी कू हमन जम्मा न्यूत नी करणो
स्यौ त हुमाणा भी बाँद, स्योत जोगी इनो होलो ।

+ +
तब फिफडाँद ब्रह्मा - यो रैदास चमार ।
फन कैकु ली बङ्गु ये कि मेंद ?

अपनी इसी सामाजिक स्थिति के प्रति असन्तोष के भाव ने बाँद समाज की सगुण उपासना से निष्कासित किये जाने पर समाज के इस वर्ग का व्यान उपासना के उस द्वासरे पहलू की ओर गया जो कि सगुण के स्थान

१. गढ़वाल का इतिहास - पं० हरिकृष्ण रत्नड़ी, पृ० ६६

२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट 'श्लेष',
पृ० ३०७-३०८

पर निर्गुण को अधिक महत्व देता है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए डा० पोहनलाल बाबुलकर ने कहा है कि - 'लोक की इस उपेन्द्रा के कारण समाज के इस वर्ग ने भेदभाव विहीन नीति के समर्थक और उपासना को उन्होंने अपना लिया। उन्होंने ब्रह्म के उस निर्गुण निराकार स्वरूप को महत्व दिया और उसी की साधना के लिए सवर्ण को असमर्थ करार देकर अपनी महसा को बढ़ाने का प्रयत्न किया।'

समाज के इसी वर्ग का यह निराकार 'निरंकार' बनकर गाथा के रूप में प्रचलित हो गया, जिसके साथ सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर गाथा में कथित रैदास चमार की महसा और सवर्ण होने पर भी ब्रह्म का रैदास चमार के सामने पराज्य स्वीकार करना अवर्णों की उसी भावना का घोतक है। संभवतः इन गाथाओं के माध्यम से धार्मिक समन्वय की भावना को प्रस्तुत करने का विवार रहा है या जातीय संकोणता के अस्तित्व को चुनौती दी गयी है। कुछ भी हो इससे लोक जीवन के उन मूल्यों पर प्रकाश पड़ता है जो रुद्धिवादी और पतनशील संस्कृति के बीच व्यापक मानवीय सम्बन्धों में विश्वास रखते हैं। इस प्रकार की गाथाओं में सुखु की सुनारो, कुसुमा-कोलिन तथा निरंकार की गाथा महत्वपूर्ण हैं।

'कुसुमा कोलिन' गाथा में कृष्ण कुसुमा (जो कि एक हरिजन की स्त्री है) पर पोहित हो जाते हैं और उसके घर पहुंच जाते हैं। कुसुमा उन्हें द्वार पर आया केलकर जार्खर्य प्रकट करती है और कहती है - आप तो नारायण है हम कोली (हरिजन) हैं। मगवान ने छधर दर्शन कैसे दिये। कृष्ण बोले - ऐसी बात क्यों करती हो कुसुमा? कोली भाई कहाँ है? कोली को घर में न पाकर कृष्ण कुसुमा से प्रणय क्षेदन करता है।

१. गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० पोहनलाल बाबुलकर, पृ० ११६

इस गाथा में कृष्ण का कुमुपा के पति को भाई कहना और कुमुपा से प्रणय सम्बन्ध स्थापित करना एक और जहाँ उच्च जाति के भोगवादी मूल्यों को दर्शाता है, वहीं निम्न जातियों के महत्व को भी स्वीकारा गया है।

‘सुजु की सुनारी’ स्क बन्ध गाथा है जिसमें कृष्ण का निम्न जाति की स्त्री के साथ प्रेम सम्बन्ध होता है। इस गाथा में कृष्ण की समा में कबीर, कमाल और दादू को भी बैठे हुए दिखाया गया है। स्पष्टतः इस में निर्गुण मन्त्रित्वारा का प्रभाव परिलिपित होता है। कबीर के ‘जहाँ जात-पांत नहिं घर्म’ के समाजिक दर्शन ने मध्यकालीन चिंतन को मानवता के बाधार पर समानता की ओर दिशा दी, उससे दलित जातियों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। किन्तु इस तरह की गाथाओं में एक बाँर बात जो महत्वपूर्ण है, वह यह कि जब मनुष्य के मावनात्मक सौभग्य विशुद्ध प्रेम के धरातल पर पहुंच जाते हैं, तो वहाँ घर्म, जाति या नेत्रिक वर्जनार्थ अस्तित्वहीन हो जाते हैं।

‘कोलिन’ और ‘सुनारिन’ के प्रति कृष्ण का प्रणय भाव दिखाकर इन निम्न जातियों की रमणियों को कृष्ण से सम्बद्ध कर उनकी महत्वा प्रतिष्ठापित की गई है।

‘ब्रह्म काँड़’ गाथा में कृष्ण और ब्रह्मकाँड़ नाग जाति की कन्याओं से विवाह मी करते हैं --

मोती माला पत्थर माला दी बैणां
चली ऐन दाढ़ाण छारिका,
मोती माला व्याहेण कृष्णक हैं ।
बरमीन व्याहे पत्थरमाला ।

इन गाथाओं के सम्बन्ध में डा० गोविन्द चात्क का विचार है --

‘स्पष्टतः ऐसी कल्पनाओं के पीछे जातीय और धार्मिक समन्वय की मावना प्रमुख रही होगी। गाथा में पुनर्जीवन प्रदान करनेवाली गोरखनाथ, सिद्धवा, आदि की शक्ति का उल्लेख और धार्मिक समन्वय की ओर संकेत करता है। यह गाथा मूल रूप में तब रची गई होगी, जब कृष्ण को नागराज के रूप में स्वीकार किया गया होगा, किन्तु बाद में नाथ और सिद्ध परम्परा के प्रभाव के कारण उसमें गोरखनाथ आदि का प्रसंग भी जुड़ गया।’^१

वस्तुतः इन गाथाओं में पध्यकालीन सामन्ती मूल्यों की ही अभिव्यक्ति अधिक है, सतही रूप में उनमें जातीय और धार्मिक संकीर्णताओं को अस्वीकार करने के प्रसंग मिलते हैं, लेकिन ऐसे प्रसंग केवल स्त्री प्राप्ति या भौगवादी लिप्सा के ही परिणाम हैं। ऊँटिवादी नेतिकताओं और जातीय शोषण की प्रतिक्रिया इनमें कहीं नहीं दिखाई देती। गोविन्द चात्क जी की इस बात से मैं सहमत हूँ कि ‘‘सुनारी’ की गाथा में सुनारी से प्रेम संबंध स्थापित करने और उसके पति को सताने के लिए कृष्ण कई उपायों को काम में लाते हैं। वस्तुतः यह प्रसंग पध्यकालीन सामन्ती कूरताओं से प्रेरित प्रतीत होता है। ‘सुज्जु की सुनारी’ गाथा में कृष्ण, भगवान् कृष्ण की बफेदा अपने सुख और विलास के लिए प्रजा को पोँड़ित करने वाला सामन्त दिखाई देता है।’^२

‘निर्झार’ की गाथा इन गाथाओं से कुछ मिलता रखती है। इसमें संकीर्ण जातीय मूल्यों की अस्वीकृति और व्यापक पार्वीय चिंतन, समाज के संदर्भात्तिक घरात्तल पर अपने आवेग को प्रस्तुत करता है। इस गाथा का विशेषज्ञता

१. पारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : पथ्य हिमाल्य - डा० गोविन्द चात्क, पृ० २५९

२. वही, पृ० २४६

है कि यह जागृत हरिजनों की मावना को प्रतिबिम्बित करती है। बुक्स शास्त्राध्यासी किन्तु फ्टटर अंगविश्वासी साम्प्रदायिक सवणाँ के प्रतीक हैं। किन्तु गंगा मानवता और करुणा को वह बज्जु धारा है जो जाति और कुल की सामान्य साम्प्रदायिक मावनाजों सेड़ पर है। गाथा में इस सत्य का सकेत किया गया है कि सामान्य जन में जो जवणाँ के स्पर्श से बपवित्र होने का माव व्याप्त है, वह संकीर्ण चिंतन का परिणाम है। मानवता व्याप्त धरातल पर मानव रक्ता और समता का ही समर्थन करती है।

वस्तुतः सवणाँ के प्रति जवणाँ का रोश सीधे-सीधे जाहिर नहीं हो सकता। इसका कारण उनकी सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक स्थिति है। इसी लिए वे सवणाँ के देवताजों के प्रति उल्लहना उपालंभ का स्वर देकर अमूर्त विरोध व्यक्त करते हैं--

रेदास की मेंट मूली गे बरमा,
बरमा आधा रास्ता माँ आये
बरमा का बांस फूटी गैन।

परिवार

गढ़वाली लोगों के सामाजिक जीवन की मूल दृक्काई आज भी परिवार है। परिवार ही समाज में मनुष्य के स्तर, व्यवसाय, पेशा, धर्म और संस्कारों को बहुत बड़ी मात्रा में निश्चित करता है। उनकी बास्था बाज भी संयुक्त परिवार में है। संयुक्त परिवार के प्रति लोक समाज की यह बास्था केवल परम्परा के प्रति पोह ही नहीं है, प्रत्युत इसके पीछे उसकी

१. गढ़वाली पाषाण बाँर उसका साहित्य - डा० हरिदच मट्ट 'श्लेष', पृ० ३०८

परिस्थितियाँ, वातावरण एवं प्रहृत्वपूर्ण जीवन-दर्शन के बाधार हैं।

संयुक्त परिवार प्रणाली के प्रति पूर्ण सहमति होने पर भी वर्तमान लोक समाज इस वास्तविकता से अचूता नहीं बच सका किउसके भी तर संयुक्त व्यवस्था के कारण एक घटन और क्षमसाहट भी विद्मान है। एक और परिवार में ऐसे सम्बन्ध पोषित होते हैं जिनका बाधार सहज स्नेह और शाश्वत अपनत्व है --

जीतू व शोभनु होला गरीबा का बेटा
माता त सुमेरा छह, दादी फ़्यूली जोँस्त
दादा जो कुलर क्या मुली शोभनी

+ + +

मुला शोभनुहोला माता बाला झल्कूद
में जालू माता शोभनी बदोँण
न्यूतकि बुलोलो, पूजीक पठोलो ॥१॥

+ + +

मामा फु़फू का मार्ह होन्दान काका बाड़ी का बाई
जनो माल दिदा क्याय तनी भी छड़ ॥२॥

तो दूसरी तरफ परस्पर व्यंग्य, कटाक्षा, स्वार्थ और ढाह के कारण उसके धनत्व में दरार भी उत्पन्न हो उठती है। समाज में चाचा, ताज और चबेरे पाईयों के द्वारा एक दूसरे की सम्पत्ति हड्डपने के लिए अनेक बच्चे बुरे साधनों का प्रयोग में लाया जाना बास देखा जाता है। 'गद्दु सुम्याल' गाथा में ऐसा

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - ढाठ हरिदच मट्ट 'ईलेश', पृ० १८४

२. वही - 'रणू रात गाथा', पृ० २०१

ही एक अङ्गर्थत्र गदू सुम्पाल के विरुद्ध उसके ताज बाँर चबेरे माई रखते
हैं --

हे मेरा बेटा ये मारी द्यान
नितर येह कुट्येहु मैंस क्वो द्यान

+ +

सातों मार्यों क पन माँ कपट सूक्ष्मीगे
गाढ़ीन सातों न गंगलोड़ी हाथ ।

पारिवारिक सम्बन्धों में इस तरह के कपटपूर्ण व्यवहार के पीछे घन-
लोलुपता, राज्यलिप्सा या जातीय वैमनस्य की पनोवृत्ति कार्य करती है, जो
कभी-कभी लोक जीवन के मोलेपन बाँर लरल पक्का को धूमिल कर देती है। स्त्री
को लेकर भी पारिवारिक जीवन में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। गढ़वाली
लोक गाथाओं में अनेक ऐसे प्रसंग उफलब्ध हैं, जो इसी तरह के ताने-बाने से
बुने गये हैं। 'रणुरौत' की गाथा में रणुरौत जब युद्ध के लिए गया होता है,
तब उसके मामा का लड़का फँकरु बवसर पाकर जपनी भासी भिमला बर्थात्
रणु रौत का पत्नी के पास आता है और उससे कहता है कि रौत माई
युद्ध में मारा गया है तथा उसके सामने विवाह प्रस्ताव रखता है। रणु रौत
को जब यह बात पता करता है तो वह कुओघ में बाकर फँकू को पार डालना
चाहता है, इसी पर रणु रौत का माँ उसे समझता है -

जनानि का सातिर तू माई ना पार
तेरी पाठ सूनी होली

१. गदू सुम्पाल गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य -
हरिदत्त भट्ट 'श्लेश', पृ० २२०-२२१

माईं का सातिर तू बनानी न पार
तेरी सेज सूनी होली ।^१

कटुता, वैमनस्य, दैष और कपट, लोक जीवन की सच्चाई तो होती है, लेकिन वह उसका अन्तर्भित दर्शन नहीं होता । उसके आदर्श पारिवारिक मधुरता, समरसता और बानन्दपूर्ण बावेग में निहित है - कई बनिता गाथा में इसी लिए सांतिया ढाह के बावजूद पारिवारिक स्कता केमहत्व को स्वीकारा गया है --

तुम माईं-माईं दुया गरड़ो नागो
बापस माँ मेल से रवा ।

यहाँ पर गरड़ और नाग का परस्पर प्रेम सामान्यसामाजिक धारणा के विपरीत प्रतीत होता है किन्तु लोक विश्वास तर्फ की अपेक्षा नहीं रखते । कुछ मान्यताओं के मूल में उन्हीं वह मावना काम करती है, जो समाज में आदर्श मूल्यों की स्थापना करना चाहती है । ऐसे प्रसंगों को कभी कभी लोक साहित्य में छोटीकिक सच्चा से जोड़कर भी प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन वहाँ मी उनका उद्देश्य आदर्श की स्थापना ही होता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि लोक साहित्य केवल आदर्श के लिए ही लिखा जाता है, बल्कि उसमें यथार्थ की प्रतिच्छाया अधिक मुखरित रहता है । गढ़वाली लोक गाथाओं में पारिवारिक सम्बन्धों का जो प्रतिबिम्ब वित्रित हुआ है, उसका कुछरूप देखा जा सकता है ।

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट 'श्लेष',

पृ० २०३

२. वही, पृ० ३०६

(क) पति-पत्नी सम्बन्ध

गढ़वाली लोक गाथाओं में बच्य पारिवारिक सम्बन्धों की बपेहा पति-पत्नी के चिरंतन सम्बन्धों के प्रति परम्परागत विश्वास है। इन गाथाओं में दाम्पत्य फ्रेम की सघनता और पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्धों का विस्तृत एवं रोचक ढंग से वित्रण हुआ है। दोनों का सहज बाकर्छण और एक दूसरे के प्रति ऐक्य की मावना यत्र-तत्र देखने को मिलती है --

तू मेरी ज़िक्रों के ध्यान पाला
त्वं माँ म्यारो ज्यू छः ।

+ + + +

मेरो पराणो क प्यारे होलो कालू भंडारी
मेरो सब कुछ तू छहं में छहं तेरी नारी ।^१

+ + + +

तव ज़ी बीरुवा हवेंगे माझि पाणि ज्यू
स्क का बिना है का नी सर्दिं
द्वी होला वो पर स्क ही होला शरील ।^२

पति के लिए पत्नी की उत्सर्ग मावना अनेक प्रसंगों में महत्वपूर्ण हो उठी है, कहाँ उसे सत् की परीक्षा देकर अपने पतिव्रता धर्म का प्राण देना होता है तो कभी अपने सतीत्व से युद्ध भूमि में गये हुए पति की रक्ता करनी पड़ती है। बारे कभी पति के लिए स्वर्यं को ही मिटा देना पड़ता है --

१. गढ़वाली माष्ठा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट 'श्लेषा'

पृ० २४१

२. वही, पृ० २४७

रखि दैणी जंगा पर बीन कालू को सिर,
 बाईं जाँध पर धरे वो छपु गँग सारो
 रईंदी बरईंदि बढ़े चिता रेँच
 सती होय गये तब ध्यान माला । ४

सत सम्बन्धी प्रणय गाथाओं में दाम्पत्य सम्बन्धों की पवित्रता व्यक्त हुई है और इस तरह के आदर्श भाव आज भी लोक जीवन में देखे जा सकते हैं । लेकिन पति के साथ पत्नी का सती होना केवल आदर्श की स्थापना नहीं करता, बल्कि उसके मूल में स्त्री की सामाजिक स्थिति, विवशता और उत्पीड़न है । विधवा स्त्री को समाज में किसी तरह का सम्मान प्राप्त नहीं होता, इसके झलावा पुरुष की भोगवादी सोच के कारण उसे अपने पतिव्रत वरित्र को सुरक्षित रखना और कठिन हो जाता है । अपनी इसी सामाजिक स्थिति के कारण भी पत्नी अपने पति के साथ सती होना ही ऐस्कर समझती रही है । बदलते सामाजिक परिवेश के कारण गढ़वाली लोक जीवन के मूल्यों में बदलाव तो बाया है, लेकिन गाथाओं में भी भी मध्यकालीन ध्वस्त मूल्यों के प्रसंग अनेक असरों पर व्यक्त होते हैं । इसके पीछे लोक जीवन का सरल हृदय और भोलापन है जो पति-पत्नी के आदर्श को तो स्थापित करना चाहता है, लेकिन इस तरह के अमानवीय कृत्यों तक उसका सहज हृदय पहुंच नहीं पाता ।

दुःख में स्त्री एक पात्र पति का सहारा चाहती है । दुःखी होने पर पति का सामीप्य प्राप्त करने के लिए वह बहुत लालायित रहती है । वह अपने प्रेमाधिक्य के कारण पति को धन कमाने के लिए भी बाहर नहीं जाने देना चाहती । पति भी जो नोकरी के लिए परदेश जाने के लिए विवश होता है, पत्नी का विश्वेष नहीं चाहता । लेकिन आर्थिक मजबूरियों के कारण

पति-पत्नी को विरह की यातनार्थ के लिए पड़ती हैं। ऐसे अनेक प्रसंग गढ़वाली लोकगाथाओं में अभिव्यक्त हुए हैं। पति और परिवार के लिए अपने अस्तित्व तक को मिटाने को तत्पर स्त्री की समर्पण मावना की चरम स्थिति 'ताळुमताळुम' गाथा में देखी जा सकती है --

मैं भी मेरा स्वामी संग पाँ बाँदू ताळुम ताळुम ।

झुख लगती मैं भोजन हवे जौलू ताळुम ताळुम ।

थास लगली मैं जली हूँ बाँलू ताळुम शाळुम

उकाल लगली मैं लाठी बणी जीली ताळुम ताळुम

पसीना हवेल स्वामी रुमाल हवे जौलू ताळुम ताळुम

सेब की द्वंगत मैं नारी हूँ जौलू ताळुम ताळुम

जुद्द लगलो मैं, कालिका हूँ जौलू ताळुम ताळुम ।^१

गढ़वाली लोक गाथाओं में सर्वत्र और सर्वथा पति-पत्नी के ब्रेष्ट सम्बन्ध ही प्राप्त नहीं होते। कहीं-कहीं पति-पत्नी के बीच कटु सम्बन्धों और परस्पर तनाव का उल्लेख भी मिलता है। इसके पीछे बहु विवाह प्रथा, पति का बन्ध स्त्रियों से सम्बन्ध एवं पत्नी के अप्यार्दित सम्बन्धों के क्लावा घर गृहस्थी के नित्य प्रति के कार्यों में पति की बाशा की अवहेलना करना है। 'जीतू बगड़वाल' गाथा में जीतू जब अपनी साली से मिलने जाता है, तो उसकी पत्नी अपनी उपेहारा को बदाश्त नहीं कर सकती और अपने पति को भला-बुरा कहती है -

जाँदो हवेहैं मेरा स्वामी, बाँदो नी हवेहैं,
स्याली क सातिर त्रू मैटी बैणी बदौण ।^२

१. गढ़वाली गाथा और उसका साहित्य - डा० हरिदत मट्ट 'शेलेश'

पृ० २६६

२. वही, पृ० १८५

‘रणु राते’ गाथा में धर में दूध उफलव्य न होने के कारण पत्नी पति केलिए सट्टो सीर बनाती है तो रणु राते सोचता है कि यह मेरी उपेहां कर रही है और दूध इसने अपने प्रेमी को फिला दिया होगा - वह क्रौघ से भर उठता है और पत्नी को मारने के लिए उक्त हो जाता है --

ईंक तई राँड केक पकायै सट्टों सीर
रणु रातन सैवे शमशीर
आज राँड का टुकड़ा-टुकड़ा करदौ ।

(ख) सास बहु का सम्बन्ध

लोक-साहित्य में सास बहु के सम्बन्ध कहीं बच्छे नहीं दिखाई है पढ़ते । लोकाचार में बहु सास का सम्पादन करती है । उसकी सेवा सुश्रुषा में रत रहती है । महाकवि तुलसी ने स्त्री का सबसे बड़ा धर्म सास ससुर के वरणों की सम्पादनपूर्वक पूजा बताया है -

रहि ते बधिक धरम नहीं दूजा
सादर सासु-ससुर पद पूजा ।

इसके बावजूद सास बहु के कार्य से हमेशा असन्तुष्ट दिखाई देती है । सास बाँर बहु के बीच संघर्ष का मनोवैज्ञानिक आधार भी है । माता का अपने पुत्र के लिए बाँर पत्नी का अपने पति के लिए बधिकार प्रदर्शन का मात्र

१. गढ़वाली भाषा बाँर उसका साहित्य - डा० हरिदर्श मट्ट 'श्लेषा', पृ० २०२
२. रामचरित मानस (मूल गुटका), बालकाण्ड - गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २६८

ही इस संघर्ष के पूल में निहित है । इस संघर्ष का द्वितीय कारण बायु का बन्तर भी है । वृद्धावों और युवतियों का दृष्टिकोण परस्पर मेल नहीं खाते । वृद्धाएँ अपने जीवन के अनुभवों का उदाहरण केर युवतियों पर कटाक्षा करती रहती हैं और युवतियाँ वृद्धावों के कथन को सड़ा-गला बाँर निर्धक समझ कर टाल देती हैं । परिणामस्वरूप कलह केवीज पनपने लगते हैं । सास अपने इसी इत्तोम के कारण ही बहु को दिन रात आवश्यक और बनावश्यक कार्यों में जुटाए रहती है । उसे एक डाण के लिए भी अकाशग्रहण करने नहीं देती । सास का इससे भी अधिक निष्ठुरता और कठोरता का प्रमाण तब मिलता है, जब वह फूटे-सच्चे अच्छ्यंत्र रक्कर परदेश से लाँटकर बास हुए पुत्र से बहु के अन्याय दोषों का वर्णन करती हैं और उसके वरित्र पर भी दोष लगाती हैं । गढ़वाली लोक गाथावों में सास-बहु के इस तरह के सम्बन्ध पर्याप्त रूप में मिलते हैं ।

‘ज्ञो’ की गाथा में इसी तरह एक सास अपनी बहु के वरित्र पर लाँचन लगाती हुई अपने पुत्र से शिकायत करती है -

न ले मेरा वीं पातर का नाऊं
पद्मू रौत बीं छों वींक भेना ।
पाणी पंधारा वा पाप करीक बार
अपणा पापन बेटा, वींन मीत अपनी बफों कुलास ।^४

कभी-कभी तो बहु को सास ढारा दी गई शारीरिक प्रताङ्गना के कारण प्राण तक देने पड़ते हैं --

लबार पातर छई तू दारी
वार पार लैक नैना बमोन्दी

ढाढ़ी ज़िक्रिं तेरी बाध सालो
 दाग लगेक ज्वानि पर यस बाईं केके ?
 देख त्वे आज मैं ज्यूदा नी छोड़ू ।
 बुड़डीन तब कटार मारे सून की घार बगे ।^१

‘नागलोक मैं बर्जुन’ गाथा मैं बर्जुन जब इंपदी को सुप्तावस्था
 मैं छोड़ कर वसुन्दता से मिलने नागलोक चला जाता है तो सुबह शैया पर
 बर्जुन को न पाकर इंपदी कुन्ती के पास जाती है और बर्जुन के बारे मैं
 पूछती है । कुन्ती इंपदी को जो उचर देती है, वह सास-बहु के कटुतापूर्ण
 सम्बन्धों को ही उजागर नहीं करता, बल्कि अपने ही परिवार मैं अपने ही
 लोगों के बीच एक स्त्री की विहम्बनापूर्ण विवश्ता को भी उजागर करता
 है --

हे सासु राँल तुमन अपणू बेटा भी देखे ?
 तब कोन्ती पाता कन स्वाल देंदी -
 काली रूप धरे त्वेन बर्जुन मज्याले,
 अरु मेमु सच्ची होण कु बाईं गर
 तब कड़ा बचन सूखीक दुरपती
 दण मण दण मण रोण लगदे ।^२

अजीब विहम्बना यह है कि जो बहु आज सास छारा प्रताड़ित होती
 है, वही मविष्य मैं ऐसी सास की मूर्मिका निमाती है ।

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डॉ हरिदत्त मट्ट 'ईलेश', पृ० २५०
२. वही, पृ० २६८

(ग) देवर भाषी का सम्बन्ध

लोक साहित्य में देवर भाषी का सम्बन्ध विनोदपूर्ण माना गया है। गढ़वाली लोक गाथाओं में देवर-भाषी के स्नेहासिकत सम्बन्धों का विषाद चित्रण प्राप्त होता है। कई गाथाओं में देवर भाषी का पत्रवाहक और पुण्य में सहायक भी होता है। 'ब्रस्काँल' गाथा में तो कृष्ण सीधे-सीधे अपने मार्ह 'ब्रस्काँल' को अपनी प्रेमिका को जोत कर लाने के लिए कहते हैं --

त्वं जाणू होल बरमी हिवं चल काँठा
सोना का पासा लोणान, बांदी की चौकी
जोत माला रेंदा बल मोतीं माला
जोतिक लोण मुला मोतीमाला मेकु त्वं ।^१

किन्तु अनेक गाथाओं में देवर भाषी के अनुचित सम्बन्धों का भी उल्लेख हुआ है। 'रणू रौत' में फंकू अपनी भाषी मिला से छल ढारा अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लेता है --

जनो माल दिदा क्यों तनी मैं भी कऊं,
ईन बाज दादू का पलंग का सूतो होण
ईन दादू की थाल ठऊं जिमण ।^२

इन अनुचित प्रेम सम्बन्धों का क्या कारण है? कहना कठिन है। अनुमानतः यह परस्पर पात्यु मावना के अतिरेक का दुष्परिणाम है। गढ़वाल में एक परम्परा देखी जाता है कि पति की आकस्मिक मृत्यु बादि संकट जन्य परिस्थिति उत्पन्न होने पर स्त्री देवर को द्वितीय वर के रूप

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिद्वर मृट 'शैलेश', पृ० २८४

२. वही, पृ० २०९

में वरण कर लेती हैं। सम्बवतः इसी प्रथा ने देवर-भाषी के बनुचित सम्बन्धों को प्रश्न दिया है। आज भी यह परम्परा गढ़वाल में देखने को मिलती है किन्तु यह प्रथा निम्न वर्ग की जातियों (कोलो, लोहार, बांजी) तक ही सीमित हो गयी है, उच्च जातियों में प्रायः इस प्रकार की प्रथा समाप्त-प्रायः है।

जनपदीय विश्वास देवर भाषी के विनोदपूर्ण सम्बन्धों को लुले रूप में स्वीकार तो करते हैं, लेकिन नेतिकता और मर्यादा का ध्यान वहाँ बराबर रहता है बल्कि 'लड्मण जैसा देवर' उदाहरण देकर देवर भाषी के वादर्श सम्बन्धों की स्थापना ही वहाँ महत्वपूर्ण होती है।

(घ) सपत्नी सम्बन्ध

भारतीय नारी के लिए सौत से बढ़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है। स्त्री का परिवार के जिन पत्रों से कटुता का सम्बन्ध होता है, उनमें सौत के प्रति उसकी कटुता को भावना पराकाष्ठा तक पहुँची दिखाई देती है। कनउंजी में एक कहावत है कि सौत मिट्टी की भी भली नहीं होती -- 'सउति माँटिड की भली नाहै होति ।' ^१ बहुविवाह के कारण पुरुषों के स्त्री सम्बन्धों बन्धाय सम्बन्धों के परिणामस्वरूप नारी समाज के ढारा गढ़वाली लोक गाथाओं में सपत्नी भाव की मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है --

पर वसुन्दता क नौ सूणीक वा
फुल सी मुरझेंगे - ढालि सी झलसेंगे । ^२

१. कनउंजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिष्ट - डा० सुरेश चन्द्र त्रिपाठी, पृ० २५३

२. गढ़वाली माथा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त घटट 'श्लेष', पृ० २६८

सौत परस्पर एक दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए छल-क्रपट और अद्यत्र की सहायता से पति या उसकी सम्पत्ति पर अपना साधिकार करना चाहती है। 'गोरोल' गाथा में इसी तरह का एक अद्यत्र है जिसमें सौत के बच्चे को नदी में बहाकर दूसरी सौत यह कहकर कि इसने 'गंगलोहु' (पत्थर) को जन्म दिया, अपनानित करती है। 'कद्व-बनिता' में तो कद्व का सांतिया डाह बनिता को छल से अपनी दासी बना लेता है -

बनिता होली कनी स्या ढेणा
वीं की दासी कनो होण बेटा मैंन ।

+ + +

तब हवेंगे बनिता, नागू की दासी
तब दण मण रोदै पथेणा नेत्र घोलदे ।

इस प्रकार सौत के प्रति नारी समाज में इतना गहरा इतीम विषयान है कि जिस किसी के प्रति वह अपना आकृत्य प्रकट करना चाहती है, उसे ही वह सौत को संज्ञा दे देती है। आश्य यह है कि मारतीय नारी अपने दाम्पत्य प्रेम में किसी दूसरे के बधिकार की कल्पना नहीं कर सकती। परस्पर बानन्द प्रेम भावना ही दाम्पत्य जीवन की सार्थकता है। और सप्तनी द्वेष के प्राध्यम से बात्पोत्सर्जन करने वाली साँभार्यवती नारी अपनी इसी बनन्य भावना का साधिकार परिचय देती है। डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि - 'प्रत्येक वधु अपने प्रियतम के लिए बाकर्धण का विषय है और सौत उस वधु के प्रणायी जीवन का बर्मगल्कारी धूमकेतु' । गढ़वाली लोक गाथाओं में इस भाव की अन्वित नारी के कहणा पर्य जीवन की त्रासदपूर्ण स्थिति को सामने रखती है।

१. गढ़वाली माथा और उसका साहित्य - डा० हरिदत भट्ट 'श्लेष', पृ० ३०३

२. कनउजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, पृ० २५४

इसके अतिरिक्त गढ़वाली लोक गाथाओं में पाँ-पुत्र, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, पापा, छुका आदि पारिवारिक सम्बन्धों का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है, जो प्रायः वात्सल्य एवं ममता से परिपूर्ण है ।

नारी सम्बन्धी जीवन मूल्य

गढ़वाली लोक समाज में यथापि परिवार के भरण पोषण और श्रम में नारी की मांगेदारी प्रतिष्ठित होती है, किन्तु अपने सामन्ती संस्कारों और मूल्यों के कारण वहाँ भी पुरुष का ही प्रभुत्व रहा है । उसने नारी को कभी तो देवी की भाँति पूजा है, कन्या को सर्वत्रैष्ठ दान कहा है तथा माता में देवत्व के दर्शन किये हैं वाँर कभी उसको मायाविनी, कुलटा वाँर दुर्गुणों की खान कहने में भी संकोच नहीं किया है । उसके सतीत्व, कन्या के जन्म के कारण उपेक्षा, श्वसुर गृह के कष्ट, बन्ध्यात्व, वैधव्य तथा उसके स्वभाव के सम्बन्ध में सामन्तवादी समाज की कुछ निश्चित धारणाएँ बनी हुई हैं । स्त्री वर्ग ने उनके विरुद्ध समय-समय पर अपना इतीम भी प्रकट किया है ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में नारी की स्थिति के दोनों पक्ष प्राप्त होते हैं । कहीं वह सती साध्वी, बादरणीया, सम्य सुशिद्धित स्वं वीरता की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित की गयी है तो कहीं उसे माता पिता के लिए भारस्वरूपा, सास श्वसुर एवं पति से तिरस्कृता, दुश्चरित्रा आदि अनेक अवगुणों से परिपूर्ण और हेय रूपों में केजा गया है -

‘लबार, पातर छं त्रु दारी ।’^१

१. ‘जसी गाथा’ : गढ़वाली मांडा और उसका साहित्य : डॉ हरिदत्त भट्ट ‘श्लेष’, पृ० २५०

भारतीय नारी अपने सतीत्व के लिए प्रसिद्ध हैं। विश्व की कोई भी स्त्री नारी के इस पावन रूप में भारतीय ललना को तुलना में कहीं नहीं ठहर सकती। गढ़वाली लोकगाथाओं में स्त्री को पति के प्रति अनन्य निष्ठावती दिखाया गया है। उसको बाहे कितना कष्ट उठाना पड़े, उसके पति में कितने ही दोष क्यों न हों? किन्तु उसकी अनन्य निष्ठा में कभी नहीं आ सकती। पत्नी के जीवित रहते हुए पति यदि किसी अन्य स्त्री से अनेक्षिक सम्बन्ध रखता है तो इससे बहिक कठोर बाधात एक पत्नी के लिए और ज्या हो सकता है? लेकिन इसके बावजूद अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं जहाँ पति के अन्य स्त्री के साथ अनेकिक सम्बन्ध होने पर भी पति के प्रति पत्नी की निष्ठा कम नहीं होती। बल्कि 'चन्द्रावली हरण' में तो स्वयं रुक्मणी ही कृष्ण को चन्द्रावली के हरण का उपाय सुकाती है।

बतावा रुक्मणी तुमसरो मन्मूरो,
कन्के किंविक लाण तेरी बैण चन्द्रा,
तुम बणा भगवान बड़ी का फेकवाल
तव जावा नारौण चन्द्रावली गढ़ ।

अनेक गाथाओं में परदेश से लौटने पर पति अपनी पाँया बहन के बहकावे में आकर बाँर कभी स्वयं छद्म वेश में अपनी पत्नी की परोङ्गा लेता है। कभी-कभी देवर भी मार्भी को छल से अपनी पत्नी बनाना चाहता है। 'राणू राँत' गाथा में फंकरु क्यनी मार्भी मिमला से कहता है कि रणू माइं युद्ध में मारा गया है बतः अब तुम मुझसे विवाह कर लो। मिमला उसे फटकारती हुई कहती है कि --

'एक बात बोली दूर है कि पा न बोली

ज ४. गढ़वाली मार्षा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त मट्टू 'श्लेष',
पृ० २५०

मैं शेरना की सेब स्याल नि सेवालदो
मैं स्वामी की थाल कुत्ता निकिमांदो । ^१

नारी के लिए सतीत्व सम्भवतः सबसे बड़ा धर्म रहा है । इसीलिए बधिकाँस गाथाओं में नारी बपने सतीत्व को लल्कारती हुई यही कहती पिलती है कि यदि मैं दो की जाईं (माँ और पिता की पैदा हुई) और एक की जोईं (पत्नी) रही होऊं तो अमुक कार्य सिद्ध हो जाय । उदाहरणतः 'गद्य सुप्पाल' में जब गद्य का ताज धोखे से उन्हें कूटदारी भेस (जिसका द्वय समाप्त होने वाला हो) देता है तो गद्य की माँ कहती है --

सते होली मैं जु अपणी माँ की जाईं
सते होला जु फंचाम देवता ^२
ही भेसी पर दूध जाईं जान ।

एक अन्य उदाहरण --

सते होली तू दुर्यों की जाईं एक की जोईं
त उठी जैली सेयाँ क चार
जु त्वंन नि करे हों पाप, मन रे हो साप
जु केकू खोटी निबोली, पराईनि ताकि होली
त तू जसी मेरी नार खड़ी हक्याँ सेयाँ चार । ^३

- अगर तू सत्य ही दो की जाईं और एक की जोईं रही है, जो तूने कभी पाप न किया हो, तेरा मन साफ रहा हो, जो तूने कभी खोटी

१. गढ़वाली माणा और उसका साहित्य - डा० हरिदर्च मट्ट 'श्लेष', पृ० २०९

२. वही, पृ० २२९

३. वही, पृ० २५१-५२

बात न कही हो या पराईं चीज के लिए न ताकी हो, तो हे जसी नारी
तू सोए हुए की तरह उठ बैठ ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में केवल नारी को ही अपने सतीत्व का आह्वान
करते नहीं पाते । वरन् पुत्र बधवा पति भी उसके सत् की शक्ति से सम्भव को
बसम्भव करते पाते हैं । नारी का सतीत्व पति बाँर पुत्र की शक्ति के लिए
अनिवार्य उपलब्धि पानी गयी है । नाराज संतान बाँर कुलटा स्त्री के पति
से किसी सिद्धि की आशा नहीं की गयी है । हसीलिए कालू भंडारी युद्ध में
जाने से पूर्व अपनी माँ से साहसपूर्ण प्रश्न करता है - 'माँ यदि मैं अपने
माता पिता का पुत्र हूँ तो मैं रण में जाता हूँ अन्यथा परने को नहीं जाता ।'

लोक साहित्य नारी की दीन हीन दशा का चित्रण सबसे अधिक
प्रस्तुत करता है । नारी के जन्म को एक प्रकार का अभिशाप माना जाता
है । आर्थिक समस्या बाँर विवाह की कठिनाई ने स्त्री जीवन को बाँर भी अधिक
दुःखमय बना दिया है । सामन्ती व्यवस्था ने अनेक विषयताएं पैदा कीं
जिसने नारी के जीवन, उसके अधिकारों बाँर प्रणाय को सीमाओं में बांधने
का प्र्यास किया, यह प्र्यास गढ़वाल की वेती गाथाओं में बहुत ही स्पष्ट
हुआ है । इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश वेती गाथाएं सामन्त-
वादी परिस्थितियों की देन हैं । डा० गोविन्द चात्कुल ने इसका उल्लेख मारतीय
लोक संस्कृति के सन्दर्भ में किया है -- 'यह पूरा युग सामन्ती संघर्ष का युग था,
जिसमें शासकों की सनक, अहलकारों की हँस्याँ बाँर रानियों की महत्वाकांडाएं
राजनीति की चालें बढ़ा रही थीं ।'

जिस परिवार में युगों से जरा-जरा सी बात पर कट मरना जीवन
का दर्शन बन गया हो, वहाँ नारी की क्या स्थिति रही होगी, हसकी कल्पना

की जा सकती है । रिलोला के पवाड़े में मर्जिमरावती का पुत्र की मृत्यु पर यह फटकार (शाप) देना कि गढ़वाल में कभी कोई मढ़ पैदा न हो, उसके हृदय की परिस्थिति से उत्पन्न व्यथा को प्रकट करता है ।

स्त्री की अन्य पीड़ा उसके बन्ध्यात्म का अभिशाप है । माता के एप में ही नारों अपने पूर्णत्व को प्राप्त होती है । बिना सन्तान के वह अपने जीवन को अभिशाप समझती है, चाहे कितना ही धन-धान्य उसके घर में क्यों न हो । कितना ही सुख वैभव हो, पर बिना संतान के स्त्री को सच्चा सुख नहीं मिलता, संतान प्राप्त करने के लिए वह सभी तरह के कष्टों को सहती है । मनाँत्याँ माँगती है । 'राजुला मालूशाही' में तो बहुत मनाँत्यों के बाद बस्सी वर्धा की अवस्था में रानी पंचारी को संतान सुख की प्राप्ति होती है --

'बुद्ध्या' दी बगत लगी तीजा ज्सी जाने
दोलाशाही राजा की राणी पंचारी बैर्तै
वी' राणी को विधाता मर्म रह गए ।

लोक-साहित्य में बाँक स्त्रियों का मुर्ह देखना भी अपश्कुन पाना जाता है । कभी कभी तो संतान प्राप्त न होने पर पति द्वारा पत्नी को त्याग किया जाता है और वह दूसरा विवाह कर लेता है ।

स्त्री की चरम करुणाजन्य स्थिति उसका विधवा हो जाना है । विधवा की मर्म-भेदों करुण व्यथा लोक गातों एवं लोक गाथाओं में सुनाई देती है । पुरुषा बनेक विवाह कर सकता है, लेकिन विधवा, चाहे वह बालिका ही क्यों न हो, पुनर्विवाह नहीं कर सकती । पुरुषा वर्ग के लिए

स्त्री धर्म पालन करने का कोई नियम नहीं है, परन्तु विघवा की दिनबर्याँ के लिए कठोर नियंत्रण है। विघवा की आर्थिक दशा भी बड़ी दुःखद होती है। उसे उचराधिकार का कोई अधिकार नहीं है। अतः पति की मृत्यु के बाद वह पुत्र तथा धर के बन्य कुटुम्बियों की द्वा पर आकृति रहती है।

गढ़वाली लोक गाथाओं में नारी को 'तिरिया चरित्र' वाली भी कहा गया है। स्त्री के छल-कृपटपूर्ण विश्वासघात युक्त एवं रहस्यमय चरित्र को तिरिया चरित्र कहा जाता है। एक लोकोक्ति के अनुसार 'स्त्री के चरित्र वाले पुरुष के भाग्य को देव भी नहीं जान सकता तो मनुष्य की सामर्थ्य ही क्या है - °त्रियाशचरित्रं पुरुषस्य माण्यं क्वो न जानाति कुतः मनुष्यः । ° लोक साहित्य में नारी का यह छलपूर्ण स्वभाव विशेषकर लोक कथाओं में प्रकट हुआ है। 'रणू राँत गाथा में स्यूसीला का प्रेमी रणू राँत जब उससे पिलने वाता है तो उसका पति उसके प्रेमी को मार डालता है तथा स्यूसीला के प्रति क्रोध प्रकट करता है, लेकिन स्यूसीला अपने पति से कहती है कि 'वो अपने बाप बाया था अपने बाप पर गया मैंने उसे नहीं बुलाया था। बाप तो मेरे सिर के ताज हैं, मेरे पति हैं। किन्तु जब मेघु कानूनी अर्थात् स्यूसीला का पति स्यूसीला के प्रेमी की चिता जलाता है तो स्यूसिला चिता में कूद कर अपने प्राण के देती है --

जना बफू आई छ्यो वो उनका बफू मरी गंना
तुम छन मेरा भरता ।

+ + +

फेर छट उछले चिता चढ़ी गये
द्वि मालू का बीच सती होइं गये ।

वस्तुतः पुरुष की स्त्री के शब्दों, व्यवहार, प्रेम, करुणा, रुदन, हास्य आदि का रहस्य नहीं समझ पाता बोर छस सब के लिए पुरुष समाज ही जिम्मेदार है जिसने नारी चरित्र को इतना जटिल बना दिया है। पुरुष

समाज ने ही उसे छल, घृणा और कपट सिखाया है। पुरुष प्रधान समाज ने नारी को कभी भी समानता का विकार नहीं दिया है। वह उसके लिए कभी देवी बनी, कभी कुलठा बनी, शारीरिक उपभोग की वस्तु बनी, तो कभी सन्तानोत्पत्ति तक ही उपभोगी समझी गयी। तो कभी चीका-बूल्हा की सीमाओं में ही उसकी सम्माननाओं आंर बाज़ाओं को बांध दिया गया। इस तरह के पतनशील मूल्य कभी भी गढ़वाली लोक जीवन में देखे जा सकते हैं। लेकिन यथापि जब शेष समाज से गढ़वाली लोक समाज का सम्पर्क बांर बंशतः ही सही, शिक्षा वारे प्रचार माध्यमों ने वहाँ नारी की स्थिति में कुछ भिन्नता अवश्य ला दी है। नारी सम्बन्धी पुराने मूल्यों के टूटने के संकेत और उसकी बेतना बायुक्ति मूल्यों से प्रभावित होती दिखाई दे रही है।

नारी की वर्गीय बेतना

अपने सम्पूर्ण परम्परागत शोषण के बावजूद गढ़वाल में नारी की वर्गीय बेतना उसे सामाजिक समता के धरातल पर तो ला देती है, लेकिन कई स्तरों पर कभी भी उसकी विवशताजन्य स्थिति देखी जा सकती है। गढ़वाल की नारी का जीवन पहाड़ जैसे ही कठिन है। कृषि का लगभग सम्पूर्ण कार्य उसी के ऊपर निरं रहता है, वह दिन रात अपने को लपाती रहती है, फिर भी बार्थिंग एप से उसे किसी न किसी पर बांधित रहना पड़ता है। इसका कारण वहाँ की मूमि का उपजाऊ न होना भी है।

बूँकि गढ़वाल से विकार्श पुरुष वर्ग रोजी की तलाश में शहरों की ओर फ्लायन कर जाते हैं, इसलिए गढ़वाल में नारी को कृषि तथा परिवार से सम्बन्धित सभी दायित्व निभाने पड़ते हैं। इससे उसकी स्वतंत्र स्थिति की पहचान तो बनती है, लेकिन वर्ष पर टिकी पूरी व्यवस्था उसे फिर परालित बना देती है। जीवन-न्यापन के साथन जन्यधिक कम होने के कारण उसे पारिवारिक पोषण में भी कठिनाई होती है और वहाँ उसकी कैन्यता स्पष्ट दिखाई देती है। गरुड़ासन में गरुड़ जब परदेश चला जाता है तो गम्भीर गारुड़ी की विवशता पुरुष समाज में नारी की स्थिति को स्पष्ट

करती है --

धास नी छ पात लाखड़ी न पातड़ी
कनू के की भी ये नीला आकाश माँ
घोल बणाँलू ।

बपनी इस स्थिति के कारण उसे पुरुष का आश्र्य लेना ही पड़ता है --

पैरु माँ पोड़ी स्या त सरणांगत होये ।^१

वस्तुतः गढ़वाल में नारी को अपेक्षाकृत वार्थिक, राजनेतिक व धार्मिक स्वतंत्रता अधिक प्राप्त है । कई गाथाओं में आर्थिक रूप से सम्पन्न नारी को स्वेच्छापूर्वक दान करते हुए दिखाया गया है - 'भूखों तह्वं खिलौदी छहं, रोंदों चप्पाँ दो ।'^२ 'तिलू राँकेली' में तो नारी का वीरांगना का रूप सामने आया है । वह राजनेतिक रूप से इतनी स्वतन्त्र है कि बपने पिता का बदला वह युद्ध में जाकर लेती है तथा राज्य का शासन भी करती है ।

यथपि इस तरह के मूल्य वहाँ पर सामान्य स्त्री के बारे में नहीं हैं, लेकिन स्त्री सम्बन्धी परिवर्तित धारणा के संकेत अवश्य मिल जाते हैं । कहीं-कहीं तो नारी का विद्रोही स्वरूप भी देखने को मिलता है ।

जुगल किशोर पेटशाली ढारा रचित 'राजुला मालूशाहो' की मूर्मिका में डा० गोविन्द चात्क ने नारी की इसी वेतना के बारे में लिखा है -- 'इस

१. गढ़वाली लोक-साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० पौहनलाल बाबुलकर, पृ० २२१

२. गढ़वाली माणा बाँर उसका साहित्य - डा० हरिदत्त मटूट 'श्लेष', पृ० १६३

गाथा में राजुला कुचली हुई नारी के एक पूरे बहसास के साथ अपनी निराशा कम और कटुता तथा आकृश व्यक्त करती है। यह उसकी जीवन-दृष्टि का एक बहुत बड़ा सकारात्मक पक्ष है। यहाँ राजुला समकालीन बोध का प्रतीक बन जाती है। पुरुष के हाथों में उसका शोषण, सामाजिक धार्मिक मान्यतार्द और बार्धिक परवशता सबको एक साथ फेलती हुई नारी व्यथा की पोटली बाँर दन्तकथा की बृद्धा नायिका बन बैठी है। इस प्रकार उसका स्वर विद्वौहिणी नायिका का है।^१

पुरुष कर्ग के अत्याचारों और दबावों के बीच नारी अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए तत्पर दिक्षाई देती है, पिता की हच्छा के अनुसार ही विवाह करने में जहाँ ध्यान माला केवल रो सकती थी --

पिता को मरजी अपणी निहँ बींकी
कि राँदी इः किराँदी वा नाँनि ध्यानमाला। ^२

वहाँ 'मानु माँफेलो' गाथा में नारी को अपने अधिकार के लिए संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। अमरावती का विवाह उसका पिता गवाड़कोड़ के राजा गुरु ज्ञानचंद से करनाचाहता है, लेकिन अमरावती अपनी माँ के सह्योग से अपने प्रेमी से विवाह कर लेती है।

इस तरह के कई प्रसंग हैं, जहाँ नारी के प्रति परिवर्तित मूल्यों का अभास होता है या नारी अपनी कर्मिय वेतना के प्रति सज्ज होती दिक्षाई देती है।

०

१. राजुला मालूशाही - जुल किशोर पेटशाली, पृ० २२

२. गढ़वाली भाषा बाँर उसका साहित्य - ढा० हरिदत मट्ट 'श्लेश', पृ० २४२

तृतीय वर्धाय

गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त राजनीतिक जीवन-पूर्त्य

प्रचलित धारणा के बनुसार लोक जीवन को प्रायः राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय सामान्य जन समूह से सम्बन्धित मान लिया जाता है। किन्तु इतिहास अब प्रमाणित कर चुका है कि सामान्य अद्विशिक्षित जनता ने मारत में ही नहीं, केवल देशों में महान राजनीतिक आन्दोलनों में मार लिया है। लोक मानस से उद्गत 'यथा राजा तथा प्रजा' एवं 'बिंधुर नगरी चौपट राजा - टका सेर माजी टका सेर बाजा' लोकोक्तियाँ सामान्य जनता के हृदय में उत्पन्न राजनीतिक क्रिया-प्रतिक्रिया की ही धोतक हैं और यह सिद्ध करती हैं कि यह समाज अपने जीवन की बन्ध परिस्थितियों की माँति राजनीतिक परिस्थिति के प्रति भी सदैव जागरूक एवं सचेष्ट रहा है।

यद्यपि लोक-साहित्य में इतिहास का कंन होता है और उसके चित्र अस्पष्ट तथा रेखार्थ धुंधली होती है, तथापि विभिन्न लोकगीतों, पंवारों एवं वीरगाथाओं आदि का वर्धयन करने पर विदित होता है कि वे सभी अपने समय की राजनीतिक चहल-पहल, बाक्षमणों, संघर्षों और उनकी प्रतिक्रियाओं की कहानी कहते हैं। गढ़वाली लोक-साहित्य पर भी यह बात पूर्णत्या लागू होती है। उसमें स्क और गीतों में गोरखों और हिन्दुओं के संघर्ष-चित्र प्राप्त होते हैं, तो दूसरी ओर गाथाओं और पंवारों में सामन्तोय जीवन उभरे हैं। न केवल इतना ही, बल्कि बाधुनिक राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान भी उनके द्वारा प्राप्त हुआ है।

गढ़वाल के पध्यकालीन राजनीतिक परिदृश्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि पध्यकाल में गढ़वाल बनेके विष्णुवार्ण, संघर्णार्ण, राजावार्ण एवं सामन्तार्ण के वैयक्तिक स्वार्थार्ण एवं महत्वाकांडावार्ण खे प्रेरित दम्प एवं सचा-लोलुपता की हो रंगभूमि रही है। वहाँ राज्य सचा बाँर शासकार्ण के स्वार्थार्ण के पध्य आम जनता के सुख बाँर समृद्धि को कहाँ भी स्थान प्राप्त नहीं था। सचा संघर्ण-से इन राजावार्ण को कभी बवकाश भी मिलता तो उसे वे विभिन्न स्त्रियार्ण को प्राप्त करने बाँर उनका उपभोग करने में ही नष्ट कर देते थे। महलोर्ण में एक से अधिक राज्ञियार्ण रखना राजनीतिक दृष्टि से राजा के प्रभुत्व बाँर शक्तिशाली होने का मानदण्ड समझा जाता था। कहा जा सकता है कि शेष मारत के बन्ध राज्यार्ण की पध्यकालीन राजनीतिक धारा के समानान्तर ही गढ़वाल की राजनीति निरन्तर प्रवाहित होती रही।

यथपि गढ़वाली लोकगाथावार्ण के रचनाकाल का कोई प्रामाणिक समय नहीं मिलता, लेकिन कुछ ऐतिहासिक घटनावार्ण बाँर व्यक्तियार्ण के प्रसंगोर्ण के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकार्णश गढ़वालो लोकगाथावार्ण की रचना पध्यकाल में हो हुई है। उनमें जिन राजनीतिक जीवन-पूर्व्यार्ण की अभिव्यक्ति हुई है, वे भी पध्यकालीन राजनीति के स्वरूप को ही अधिक प्रकट करते हैं।

राजावार्ण के शोषण बाँर बत्याचारार्ण से खिन्च गढ़वाली लोक मानस कभी अपने अन्तर में उभरते बाक्त्रोश का बासास दिलाता तथा कभी राजावार्ण के बनुदार क्रिया-कलापोर्ण के बाधार पर 'विध्वी विजेपाल' जैसी संज्ञावार्ण से अभिहित कर अपने ज्ञानोंप को प्रकट करता है। साथ ही पध्यकालीन संगुण भवित साधना से प्रेरित होकर बादशं राजा की कल्पना कर तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अपना अपृत्यक्ता विरोध प्रकट करता है। 'नागराजा' की गाथा में कृष्ण ऐसे ही बादशं राजा के रूप में चित्रित किये गये हैं, जो अपनी

प्रजा के दुःख से दुःखो होते हैं, वे बनाथों के पालक हैं तथा उनके नाम-स्मरण से ही समस्त दुःखों का निवारण हो जाता है -

तेरो नज़ लोक संकट कर्देही
विपदा कर्देही
दुःख होदो द्वार, काया होदी कंचन
द्वना रैन मगवान रांझु का मालिक
छोरों का बाप अनाथों का नाथ
नंगा देखी खाणों नि खायो
मूखा देखी वस्त्र नी लायो ।^१

‘नागराजा’ की गाथा में कृष्ण गवियों का गर्व तोड़ने के लिए कभी ‘धुनार’ (नाव पार करानेवाला) का रूप घर कर रुक्मणी को भेना (जो जा) बोलने पर मजबूर करवाते हैं तो कभी ‘बुरेह’ (निष्ठ जाति का बुड़ी बेचने वाला) बन कर उसका हाथ पकड़ते हैं और ‘भेना’ (जो जा) कहने के बाद ही छोड़ते हैं ।

इस गाथा में उच्च जातियों के मिथ्या अर्ह को तोड़ते हुए कृष्ण निष्ठ तथा उपेक्षित जातियों को सामाजिक समानता और न्याय दिलानेवाले आदर्श राजा हैं ।

‘जगदेव पंवार’ गाथा में कई कंकालों बपनेउदारवादी शासन के कारण पूजा के पद पर पहुंच जाती है --

मूखों तहैं सिल्होंदी छहैं रोंदों चप्पोंदी
मूखों देखी बन्न निछे साँदी

१. नागराजा गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदर्श मट्टट 'शेलेश', पृ० २६४

नंगों देखो वस्त्र निछे लांडी
 मालसी गढ़ का लोग बीं ताईं तब
 बास्थ्यों माँ पूजदा छाता ।

'ज्ञादेव पंवार' एक ऐसी गाथा है जिसमें साहसी, पराक्रमी एवं दानशील राजा को ही महान राजा बताया गया है। जो राजा हर समय अपनी प्रजा के हितार्थ बलिदान देने के लिए प्रस्तुत रहता है, वास्तव में पृथ्वी का उपभोग वही कर सकता है।

ज्ञादेव और ज्ञादेव दो माईं थे। दोनों ही अपने-अपने राज्य शासन में व्यस्त रहते थे। एक बार देवताओं ने उन्होंने परीक्षा लेने के लिए 'कंकाली' को उनके पास भेजा। वह पहले ज्ञादेव के बड़े माईं ज्ञादेव पंवार के पास गयी और उससे प्रजा के लिए कुछ दान देने की याचना की। लेकिन वह स्वयं दरबारियों का भेष बनाकर उससे कहला देता है कि राजा शिकार के लिए गया है। फिर वह छोटे माईं ज्ञादेव पंवार के पास जाती है और उससे कुछ दान देने को कहती है। ज्ञादेव सौचता है कि सबसे उत्कृष्ट दान क्या दिया जाय? उसकी रानी उसे अपना सिर देने को कहती है। वह तुरन्त ही अपनी तलवार से अपना सिर काट कर उसे दान दे देता है। देवता प्रसन्न होते हैं और उसे पुनः जीवित करके गढ़वाल का सम्पूर्ण राज्य दे देते हैं --

बचन क्ले दिल राई जैसिंह समाई
 बचन रहा ज्ञादेव पंवार का
 जिसने सर काट कंकाली को दिया
 गढ़वाल देस को राज किया ।

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश',

पृ० १६३

२. वही, पृ० १६६

कहने का माव यह है कि गढ़वाली लोक समाज जिन राजनीतिक - मूल्यों की निर्मिति अपनी कल्पना में कर रहा था, वे उसके बादर्शी मूल्य थे, लेकिन राजदरबारों में जिन मूल्यों को प्रश्न मिल रहा था, वे पूर्णतः पतनशील दरबारी संस्कृति के थोक्ता थे तथा राजाओं के विलासी जीवन पर आधारित थे ।

राजनीति में नारी की मानेदारी का उल्लेख भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिलता है । कहीं वह स्क पत्नी के रूप में अपने पति के साथ राजनीति में सहयोग करती दिखाई देती है तो कहीं स्वतंत्र रूप से शासन व्यवस्था का संचालन करती है । 'तिलूरौतेली' गाथा में कत्युरियों के बाकुपण के समय 'तिलू' के पिता 'भूपु' बाँर उसके दोनों माझे लड़ाई में पारे जाते हैं । उस समय 'तिलू' के कुल पन्द्रह बरस की थी । 'तिलू' जब राजनीतिक रूप से समझदार होती है तो वह कत्युरियों से लोहा लेती है । उसने गढ़वाल के कई गढ़ों को जीत कर बाठ साल तक शासन किया । गढ़वाली लोकगाथाओं में स तरह के प्रसंग यथपि कम हैं, किन्तु उनमें नारी सम्बन्धी परम्परागत मूल्यों के अस्वाकार की प्रतिष्ठानि का माव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

राजा-प्रजा सम्बन्ध

प्रजा के साथ राजा के सम्बन्ध बहुत अधिक उदार न होने पर भी गढ़वाली लोक समाज में कभी भी राजा के प्रति उग्र असन्तोष नहीं दिखाई देता । हसका कारण यह है कि वे राजा को भगवान का अवतार मानते थे । राजा मेदिनी शाह के बारे में तो एक कथा ही प्रचलित है कि एक बार क्षेत्रों राजाओं ने यह निश्चय किया कि कुम्घ पर्व के अवसर पर गढ़वाल के राजा का सबसे पहले स्नान करने के महत्व को क्षीन लिया जाय अर्थात् उसे पहले न नहाने किया जाय । यदि वह ज्वरदस्ती करे तो शस्त्र काम में लाये जाएँ । यह बात जब राजा मेदिनी शाह तक पहुंची तो राजा ने अन्य विपक्षी राजाओं को कहला भेजा

૦૦૨ ૦૬ 'ફેબ' .

૨૩૪ ૦૬

૧. કાંઈ હતું હતું હતું હતું : એ હતું હતું
 ૨. હતું હતું હતું - એ હતું હતું
-

ટાલ હતું હતું હતું હતું ।

-- હો

મનુષી હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું

હતું હતું હતું હતું હતું હતું ।
 હતું હતું હતું હતું હતું હતું ।
 હતું હતું હતું હતું હતું હતું ।

-- હતું હતું હતું હતું ।

૧. હતું ।
 હતું હતું હતું હતું, હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું ।
 હતું ।

ફાલ હતું હતું ।

કાંઈ હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું હતું ।

હતું ।

હતું ।
 હતું ।
 હતું ।
 હતું ।
 હતું ।
 હતું ।

सामान्य प्रजा का राज-परिवार के साथ मधुर या सोहाँपूर्ण सम्बन्ध भी गढ़वाली लोकगाथाओं में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। प्रजा राज परिवार को इतना अधिक सम्पादन और श्रद्धा देती है कि सामान्य नागरिक की हेसियत से यदि कोई नागरिक राजा को पुत्री से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करे तो स्वयं जनता उसे स्वीकार नहीं करती। राजा की पुत्री से प्रेम करने के लिए या विवाह करने के लिए राज्ञीपार होना आवश्यक है। 'मानु भौंफिलो' गाथा में कालूनीकोट के राजा सज्ज कालूनी की पुत्री अमरावती से मानु प्रेम करता है तो यह बात वहाँ की जनता को नागवार गुजरती है --

व्याले छोरा भूत जनो बाये
बाज राजा की नाँनि दगड़े खेल बोल कर्दै।^१

राजाओं की बापसी दुश्मनी बारेर संघर्ष के कारण राज्य की जनता को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता था, जिसे राज्य को शक्ति तो कम होती ही थी, बेहतर शासन की सम्भावनार्थी प्रायः ढीण हो जाती थी। ऐसी परिस्थितियों में अमरावती का (रण्डू राजे की गाथा में) बापस में लड़ने के बजाय पूर्व प्रसंग बेटे को सुनाकर उसकी शक्तियों को दुश्मन से बदला लेने के लिए उपयोग में लाने की बुद्धिमत्ता का परिचय देना, तत्कालीन शासन व्यवस्था को स्पष्ट करता है।

गढ़वाली लोक-गाथाओं में ऐसे कूर और कठोर राजाओं का वर्णन भी मिलता है जो अपनी प्रजा पर अनेक अत्याचार करते हैं। अपने भोगवादी मूल्यों के कारण वे अपने किलासी जीवन में किसी प्रकार के अवरोध को सहन नहीं कर सकते। यहाँ तक कि कभो-कभो तो स्त्री मोग ही उनके लिए राज्य

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त मट्टू 'ईलेश', पृ० २१०

बाँर प्रजा से अधिक महत्वपूर्ण होता है। 'गढ़ सुप्याल' में गढ़ स्त्री के लिए बपने ताजा बाँर उसके सात पुत्रों को मार डालता है तथा 'मानु भैलो' की गाथां में 'मानु' स्त्री प्राप्ति के लिए बपने स्वसुर तक की हत्या कर देता है।

अनेक प्रकार के ऐसे कठोर करों का उल्लेख भी गढ़वाली लोक गाथाओं में मिलता है जो राजाओं की कूरता बाँर शोषण को ही उजागर नहीं करते वरन् उस पूरे सामन्तोय वातावरण के बेढ़बपन को भी उजागर करते हैं, जिसमें हर प्रकार के पतनशील राजनीतिक मूल्य पुष्ट बाँर पल्लवित हो रहे थे। पं० हरिकृष्ण रत्नांशु ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाल का इतिहास' में ऐसे राजाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है -- 'इन्होंने राज्य कर्मचारियों को ही लंग नहीं किया, बल्कि प्रजा को भी पीड़ित किया। इन्होंने नये-नये कर लगाए, जैसे 'स्वंदी सुप्पा' - जितनी स्त्रियाँ घर में हों उतने सूप (क्षाज) भर कर बन्ने राजा के भंडार में देना, 'चुल्कर' - अर्थात् जितने चुल्हे घर में हों, उतने रुपये दखाए वार में दाखिल करना।'

जो तू छ वगड़वाल को एक ऐसा ही कूर राजा बताया गया है, जो बाँकी (जो द्वूध नहीं देती) मौसों का कर, उजड़े धराटों (पन-बक्की) का कर तथा बक्किहित कन्याओं का कर लेता था --

बणव्याई बेटी को ठाकुरमासी साये।

बांजा धू को बैन भग्वांशु उगाये।

ऊं बांका मौसों को पालोंलिने परोठो।²

ऐसे राजा के प्रति लोक सीधे-सीधे विरोध के लेवर तो नहीं अपनाता है, लेकिन उसके पतन को उसके छारा किए गए अत्याचारों और शोषण का

१. गढ़वाल का इतिहास - पं० हरिकृष्ण रत्नांशु, पृ० १६१

२. गढ़वाली माधा और उसका साहित्य - छा० हरिदत्त मट्ट 'झेलेश', पृ० १८२

ही परिणाम मानता है। लोक विश्वास के अनुसार दुराचारी, पदोन्मर्च, बावरे जीतू का अन्त में देवीय शक्ति छारा विनाश होता है --

बावरो नी होन्दुजीतू
नी होन्दू विणास ।^१

गढ़वाली गाथाओं में अराज्ञतावादी राजनीतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है। किसी भी शक्तिशाली राजा का उसके आतंक के घय से किसी भी कन्या से विवाह कर लेना इसी अराज्ञ स्थिति की चरमावस्था का घोतक है। 'मालू राजुला' की गाथा में जालंधर देश का राजा 'विध्वी विजैपाल' गढ़वाल के राजा सोनशाह की पुत्री 'राजुला' की सुन्दरता की चर्चा सुनकर उसे अवरदस्ती व्याह कर ले जाना चाहता है --

जलन्धर देश मा रेद छा विधनी विजैपाल
राजुला की चारजोईं सूणी तब ताँन
धूमदा - धूमदा बाईं गेन शौक्यानी देश मा ।

+ + +

राजुला क ढोला हमन जलंधर देश पर्छाण ।

देंदि छे समुरा त कट दे जुबान ।

नितर तेरो सौक्यानी राजा बांजा डाली द्योला ॥^२

आशय यह है कि राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल बाँर अस्थिरता के से उस युग में गढ़वाली लोक-समाज पदाकृत बाँर पीड़ित ही था। कभी प्राकृतिक प्रकोप, कभी बाहरी बाक्षणों बाँर कभी स्वयं अपने राजा के बत्याचारों से कुचली

१. गढ़वाली माथा बाँर उसका साहित्य : छा० हरिदत्त मट्ट 'झेलेश', पृ० १८८

२. वही, पृ० २३४

जनता का अस्तित्व राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्व नहीं रखता था ।

पंचायत और मुख्या

प्राचीन काल में ग्राम का शासन ग्राम की पंचायत द्वारा संचालित होता था जिसमें तुने हुए बथवा प्रथानुसार विभिन्न जातियों के प्रतिनिधि या सामान्य वयोवृद्ध जन होते थे । सम्पति प्रदान करने वाली संस्था के रूप में पंचायत के साथ ग्राम का मुख्या होता था । वैदिक युग में जनता के हर व्यक्ति के हाथ में सचा थी, इसका प्रमाण अज्ञात काल से चली आ रही 'पंचायत प्रणाली' है । वैदिक काल में 'पंचायत' शब्द नहीं मिलता परन्तु उस काल के साहित्य से इतना पता अवश्य चलता है कि उस समय स्वायत्र शासन था । आर्य लोग गाँव में निवास करते थे । ग्राम का एक मुख्या होता था जो ग्रामणी कहलाता था । यह ग्रामणी ही अपने गाँव का प्रतिनिधि होता था । ग्राम बनेक कुटुम्बों का एक समूह होता था । राज्य की हकाईयों में ग्राम के पश्चात् 'विश' और 'विश' के पश्चात् 'जन' का क्रम आता है । जिस प्रकार एक परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति का शासन होता है, उसी प्रकार जनरूपी बड़े परिवार में भी एक मुख्या का शासन होता था । १ जब किसी एक स्थान पर बायर्फ़ की बस्ती बस जाती थी, तब २ उसे जनपद कहा जाता था । और उसके राज्य को 'जान राज्य' कहा जाता था । 'जान राज्य' का अर्थ है जनों का - हर व्यक्ति का राज्य - जनता का राज्य । जनता के अंदे चार वर्ण - ब्राह्मण, कार्त्रि, वैश्य, शूद्र - जिन्हें आर्य कहा जाता था । जब आर्यों ने आर्येतरों को भी अपने में सम्प्रिलित कर लिया तब जनता को 'पंचजनाः' कहा जाने लगा । ३ पंचायत का आधारभूत विचार यही प्रतीत

१. मारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डा० सत्यकेतु विधालंकार, पृ० १३०

२. मारत की जनजातियाँ तथा संस्थार्द : सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ० ७२९

३. वही, पृ० ७२८

होता है। जनता पांच बगाँ में विभक्त थी, जिसे 'पंचजना' कहते थे और वे स्वयं शासन करते थे जिसे 'जानराज्य' कहते थे। 'पंचजना' और 'जानराज्य' के माल से 'पंचायत' शब्द उत्पन्न हुआ।

वैदिक काल की यही ग्रामीण व्यवस्था भारत के ग्रामों में निरन्तर बनी रही। रामायण पहाड़भारत काल में भी शासन की निम्नतम कड़ी ग्राम थी। उसका मुख्या 'ग्रामणी' और उसी तरह के दश ग्रामों का शासक 'दशग्रामी', ये बीस का 'विंशतियाँ', सीं का 'शतग्रामी' तथा हजार का 'अधिपति' कहलाता था। ग्राम में शांति बनाये रखना, ग्रामीण लोगों के फ़गड़े निपटाना, सफाई तथा ग्रामीण जनता के अन्य मामलों की देखभाल करना, ग्राम हारा राज्य को चुकाये जानेवाले सामूहिक भूमिकर में प्रत्येक कृषक परिवार का भाग निहाँरित करना तथा उसे ग्राम की ओर से स्वत्रित करना, उस परिधि में सम्प्रिलित गोचर भूमि तथा वन दैत्र की व्यवस्था करना आदि पंचायत और मुख्या के प्रमुख कार्य होते थे।

भारत में शूल, हूण, तुर्क, पंगोल, बफ़गान और मुगल आये। उनके सम्राज्य स्थापित हुए परन्तु ग्रामों पर उनका प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। उन्होंने पंचायतों के कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा, क्योंकि ऐसा करने से सारे देश की शासन व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती। यही कारण है कि मिन्न-मिन्न राज्यों और संस्कृतियों का आगमन होने पर भी यहाँ का ग्रामीण जीवन ज्यों का त्यों बना रहा। अंगों के बाने से पंचायत राज्य की यह व्यवस्था टूट गयी।

ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न शासाबों - उपशासाबों में अपने शासन का जाल गाँवों तक केला दिया था। पुलिस, पटवारी, अमीन, तहसीलदार, कानूनगों आदि अनेक अधिकारी गाँवमें पहुंचने लगे। इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक

बाँर न्याय के देवत्र में गाँवों की स्वतंत्रता समाप्त हो गयी, जो कार्य पंचायतें करती थीं, उन्हें सरकार के विभिन्न अधिकारी करने लगे। उस समय दमन, शोषण का इतना अधिक आतंक था कि ग्रामीण जनता उसमें धुट कर रह गयी। भले ही परम्परा से प्राप्त अपनी शक्ति के अपहरण के कारण उसके बीतर द्वाषप की मावना रही हो कि न्तु प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की राजनीतिक चेतना के चिन्ह उस समय के ग्रामीण जीवन में दिखाई नहीं पड़ते।

गढ़वाली लोक-साहित्य में शासनतंत्रीय एवं पंचायतों का उल्लेख, लोकोंवित्यों एवं मुहावरों में अधिक मिलता है। कहीं पंचों के न्याय को जनता सिरपाथे रखती है -- 'पंचा मुख पणमेश्वर' (पंचों के मुख परमेश्वर) तो कहीं पंचायतों का बन्यायपूर्ण फैसला देना बाँर पंचों का स्वाथीं रखेगा जनता को बिन्न मी करता है --

'पंच भी परचमी हवेगी न' (पंच भी प्रपंची हो गये)

+ +

पंचों कू बगे सारों सेरों,
नाली दुमके गयों मेरों ?^१

(पंचों के तो सारे सेत बहे, मेरे सिफं दो नाली (माप) सेत ?)

राजा पंचायतों के द्वारा अपने शासन को सुचारा रूप से बलाता था। इसके बतिरिक्त राजा 'पथान' एवं 'थोकदार' को भी नियुक्त करता था जो मालगुजारी से सम्बन्धित कार्य क्षेत्रे में लगान वसूली करके 'थोकदार' जो कि कई गाँवों का मुख्या होता था, के पास भेजता था। अपने इस अधिकार के कारण ये सामान्य जनता पर मनमाने अत्याचार भी किया करते थे। 'गद्दु सुम्याल' में तल्वार के बल पर मालगुजारी करने कावण्डन मिलता है --

१. गढ़वाली हिन्दी कहावत कोश - चन्द्रशेखर 'बाजाद', पृ० १२१

‘बार बरस को मामलो ऐला तेला सलाण रेरे ।
तेरा बाबू न तलवार पारे तू तलवार मारलो ।
तिन जाण बेटा तेला मेला सलाण, मामलो उरे लीण ।’

आर्थिक पक्षः कृषि और व्यवसाय

लोक साहित्य में जिस प्रकार सामाजिक जीवन की फ़लक मिलती है, उसी प्रकार आर्थिक वैषम्य, जीवन की कटुता और दुःस पहुंचानेवाली सञ्चालयाँ भी उतनों हो तोक्रता और शक्ति के साथ प्रकट हुई हैं । जहाँ ग्रामीण जीवन में सुख कंभव को तरें उठती हुई दिखाई पड़ती हैं, वहाँ धोर निर्धनता, हीनता और दीनता का विमत्स स्वरूप भी बालों के सामने उपस्थित हो जाता है । गोतों में जहाँ सोने को थाली में भोजन करने वारे स्वर्ण शश्या पर शयन करने का वर्णन उफलव्य होता है, वहीं पर भूमि से तड़पते बच्चों के मर्मस्पशी चित्र भी श्रोता के हृदय को मर्मान्तक वेदना का अनुभव कराते हैं ।

भारत के अन्य प्रदेशों के ग्रामीण समाज की माँति गढ़वाल के लोगों की आर्थिक स्थिति वर्तमान समय में अधिक बच्छी नहीं कही जा सकती, बाज न तो क्षेत्री में इतनी अधिक पेंदावार ही होती है कि उससे जीवन सुचारा रूप से चल सके, और ना हो ग्रामीण उथोग ही उन्नत है । बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण परिवार विभक्त हो गये हैं । उनकी भूमि का बंटवारा हो जाने से बहुत थोड़ी भूमि एक व्यक्ति के पास रह जाती है । संयुक्त परिवारों में परस्पर छेष एवं कलह के कारण भी आर्थिक वैषम्य बढ़ता है ।

गढ़वाल में कृषि एवं सामूहिक प्र्यास के ढारा होती है । जीतू वगढ़वाल की गाथा में घान की रोपाई शुरू करने के लिए जोतू अपनी बहिन को ससुराल से बुलवाता है वो फिर उसो के हाथ से रोपाई की शुरु बात कर समी सामूहिक

रूप से रोपाई करते हैं । कहने का अर्थ यह है कि कृष्ण को बहुत ही उच्च बाँर श्रेष्ठ कर्म प्राप्ता बाता था, लेकिन अब इस धारणा में काफी बदलाव आ चुका है ।

खेती अब व्यवसाय नहीं रह गयी है, जैसे कि गढ़वाली में कहावत भी है कि 'खेती ही राज करवाती है बाँर खेती ही भीस पंगवाती है' (खेती ही राज रजींज बर खेती ही भीस पंगींज) । वह महत्व अब खेती का नहीं रह गया है । भारत में बाँधोगीकरण के कारण गाँवों से युवा वर्ग के शहरों की ओर पलायन ने न केवल गढ़वाल की कृष्ण व्यवस्था को छिन्न भिन्न किया है, बल्कि कृष्ण कर्म के प्रति एक ऐसी धारणा भी विकसित की है जो उसे गोण प्राप्ती है ।

तिब्बत और भूटान से व्यापार करने का प्रमाण गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिल जाता है । बहुत ही दुर्गम रास्तों से गढ़वाल का व्यापार भूटान और तिब्बत के साथ होता था । एक माँ तो अपने पुत्र को वहाँ जाने से रोकती हुई कहती है कि बेटा भूटान मत जा, वहाँ जो जाता है, वो कभी लौटता नहीं है । वहाँ तेरे पिताजी, तेरे बड़े पाई, तेरे दादा जी गये थे, लेकिन लौटकर कोई नहीं आया -

'नि जाणू सुरञ्जु बाला ताता लूहागढ़ ।
दूर क्षेत्र कुंवर मेरो हक्को यकन्तो
तेरो बाबू गी छी बेटा बाँड़ीक नी बायो
तेरा दिदा गैक्षो बाला धर बाँड़ी नी बायो ।
तेरो दिदा बरमा रैगे बरमी दुर्घूं पर ।'

पंडित हरिकृष्ण रत्नोळी ने भी अपनी पुस्तक 'गढ़वाल का इतिहास' में गढ़वाल की व्यापारिक स्थिति के बारे में लिखा है -- 'गढ़वाल के उच्चर में तीन मार्ग अर्थात् नीती, पाणा और नीलं भारत वर्ष और तिक्ष्णत के बीच सम्बन्ध रखने वाले हैं। इन तीनों धाटियों के लोग तिक्ष्णत में शपरंग, थोलिंगमठ, गढ़तोंग, ज्ञानि आदि पंडियों तक व्यापार करने के लिए जाते हैं। ये बहुत हो दुर्गम मार्ग से व्यापार करते थे।'

समय के साथ-साथ गढ़वाल की कृषि और व्यापारिक स्थिति में परिवर्तन आता गया जिससे वहाँ का लोक-समाज अनेकानेक कष्टों और विडम्बनाओं के बीच जीवन यापन करता रहा। कभी मर्यादिकर बकाल और कभी राजाओं, सामंतों के स्वच्छाचारी व्यापार ने सामान्य जनता की असुविधाओं में दुष्कृति की है। कृषि पर आश्रित जनता का झाल पीड़ित होना और फिर तड़फ़-तड़फ़ कर परना उस पर्मान्तक वेदना की अभिव्यक्ति है जो बन्तर्मन को सहसा बान्दोलित कर देती है --

'खिसारी हाट पा, पड़े धुरमी झाल,
तड़फ़ी तड़फ़ी परीन, लोक उखड़-सा पाला,
स्वागीण राँड हवेन, कोली का परीन बाला
ज्वाती नी मुचाँ कैन, जिन्दगी नी भोगी,
तड़ी-तपड़ी करी, कपाई सब साई याले।'

०

-
१. गढ़वाल का इतिहास : पं० हरिकृष्ण रत्नोळी, पृ० ५४
 २. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त मट्टू 'श्लेष', पृ० २१६

चतुर्थ अध्याय

गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्य

किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन-यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, वेही उस समूह की संस्कृति हैं। दूसरे शब्दों में सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वेशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। संस्कृति के कुछ पक्ष अभिव्यक्त और कुछ अनभिव्यक्त होते हैं तथा उनमें बौद्धिक सर्व अबौद्धिक दोनों प्रकार के तत्त्वों का समावेश रहता है। संस्कृति सम्पूर्ण समूह तथा उस के विशिष्ट अंगों के व्यवहार प्रकारों की योजना निश्चित करती है। उसके पाठ्यम से व्यक्ति तथा विशिष्ट समूह यह जान सकते हैं कि कौन से व्यवहार और कार्य समाज को पान्य बांर स्वीकार्य हैं बांर कौन से नहीं।

संस्कृति व्यक्तिपात्र अध्या थोड़े से व्यक्तियों की वस्तु नहीं होती। उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है। संगठित समूह में रहनेवाले पान्व उसे बपनाते हैं। अपनी पुस्तक 'पान्व और संस्कृति' में डा० श्यामाचरण द्वाबे ने मी संस्कृति को सामाजिक यथार्थ पर आधारित बताया है -- 'वर्णित रूप में संस्कृति सामाजिक यथार्थ पर आकृति एक ढाँचा, बादशं चित्र होती है। समाज के जीवन में जो विवार और व्यवहार लड़ित होते हैं, उनके आधार पर हम उन क्रियाओं और सिद्धान्तों को शाब्दिक रूप देने का यत्न करते हैं जिन पर वह विशिष्ट संस्कृति आकृति रहती है।'

१. पान्व बांर संस्कृति : डा० श्यामाचरण द्वाबे, पृ० ६६

डा० सावित्री चन्द्र के अनुसार, "संस्कृति एक मनुष्यकी थाती नहीं है, बरपितु उसमें सम्पूर्ण समाज की भाँतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक सभी प्रकार की उपलब्धियाँ, विवारधाराएँ, पान्चतारं, विश्वास और उद्देश्य निहित हैं।"^१

मोटे रूप में संस्कृति उन मूल्यों, विचारों, दृष्टियों तथा नियमों आदि का सामूहिक रूप है, जिससे समाज विशेष के लोग निर्मित होते हैं। संस्कृति को संस्कृत से जोड़कर कभी-कभी लोग इसका सीमित वर्थ लेने लगते हैं। ऐसे लोग संस्कृति और सम्भिता को प्रायः एक ही मान लेते हैं। बाज़कल जिस वर्थ में संस्कृति शब्द का व्यवहार किया जा रहा है प्राचीन काल में इस शब्द का यह वर्थ नहीं था। संस्कृत साहित्य में संस्कृति शब्द के प्रयोग के स्थान पर संस्कार और संस्क्रिया शब्दों का ही व्यवहार पाया जाता है, यथापि कुछ विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य में संस्कृति शब्द के प्रयोग को खोजने का अध्यक्ष प्रयास किया है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में जो संस्कृति शब्द उपलब्ध होता है, वह वर्तमान अभिप्राय को प्रकाशित करने में नितान्त असमर्थ है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोक संस्कृति की रूपरेखा' में लिखा है कि - "बाज़कल का संस्कृति शब्द अर्जो के 'कल्वर' के समानार्थ वाची है, निरुक्ति की दृष्टि से 'कल्वर' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'कोलर' (Colar) धातु से निष्पन्न 'कल्टुरा' (Cultura) शब्द से हुई है जो सौंदर्य में पूजा करना तथा कृष्ण सम्बन्धी कार्य का क्रमशः बोधक है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों या सामाजिक सम्बन्धों में पानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले बादशाहों को ही संस्कृति कहते हैं।"^२

१. समाज और संस्कृति : डा० सावित्री चन्द्र, पृ० १

२. लोक संस्कृति की रूपरेखा : डा० कृष्ण देव उपाध्याय, पृ० ११

संस्कृति और सम्यता का अन्तर स्पष्ट करते हुए सुप्रसिद्ध मानव विज्ञान शास्त्री डा० डी० एन० मज्हमदार ने लिखा है कि - 'आज जिस प्रकार संस्कृति के लिए जगेजी में 'कल्चर' शब्द का व्यवहार होता है, उसी प्रकार सम्यता के लिए 'सिविलाइजेशन' (Civilisation) शब्द का व्यवहार होता है। इन दोनों के अन्तर को समझ लेना बावश्यक है। संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्यों की नीति-रीति, लोक-विश्वास, आदर्श, कलार्थ तथा मानव छारा उपलब्ध समस्त काँशल एवं योग्यताओं को लिया जा सकता है। सम्यता मनुष्य के सामाजिक गुणों तथा बाह्य केवल की घोतिका है।'

सम्यता और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -- 'सम्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सम्यता समाज की बाह्य-व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सम्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा क्षुविधा पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्शपर। सम्यता बाह्य होने के कारण चंचल है संस्कृति आंतरिक होने के कारण स्थायी। सम्यता समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आंतरिक विकास करें इसलिए देश की सम्यता जितनी ही पूर्ण होंगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही विशुद्ध होंगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी ही प्रबल होगी, उस देश के निवासी उसी परिणाम में सुरक्षित होंगे, इसलिए सम्यता और संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।'

आशय यह है कि स्कूल और सम्यता और संस्कृति में अन्तर भी है, लेकिन समाज विकास की धारा में दोनों बावश्यक रूप से एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में जुड़े

१. एन इन्ट्रोडक्शन टु सोशल सन्ट्रोपालाजी : डा० मज्हमदार तथा टी० एन० मदान, पृ० १४

२. सन्दर्भ : मार्षा और संस्कृति : भोलानाथ तिवारी, पृ० ३४
प्रात प्रकाशन, दिल्ली, १९८४

हुए भी हैं। यदि गहराई और विस्तार से देखें, तो एक ओर माषा, साहित्य, कला, विज्ञान आदि संस्कृति से सम्बद्ध हैं, दूसरा ओर परिवेश सम्बद्ध है जिसमें समाज, वनस्पति, मृगोल आते हैं। तीसरी ओर धर्म, दर्शन, अंधविश्वास, टोनाटोटका तथा पौराणिक पान्यतारं आदि संस्कृति से जुड़े हुए हैं, तो चौथी ओर परम्परा, इतिहास, रीति-रिवाज, सान-पान, कपड़े, बाल्याण आदि।

संदोष में, संस्कृति पानव जीवन के बाह्य, आन्तरिक, बांधिक, नेत्रिक तथा धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति करती है। आंतरिक ओर बाह्य जीवन और मन एवं कर्म का सामर्जस्य ही संस्कृति के मूल में स्थित है। सांस्कृतिक मूल्यों की चर्चा करते हुए डा० नोन्ड लिखते हैं, "सांस्कृतिक मूल्यों से अभिप्राय उन तत्वों से है, जो सत्य के संघान बाँर सिद्धि में सहायक होते हैं, जीवन की कल्याण साधना अर्थात् प्रांतिक और बातिक विकास में योगदान करते हैं और सौन्दर्य भेतना को जागृत एवं विकसित करते हैं।"

कहने का अर्थ यह है कि समाज की आन्तरिक भेतना एवं बाह्य परम्परारं जो समाज के जीवनानुभव और व्यवहार से जुड़ी हुई हैं, संस्कृति है। लोक जीवन में संस्कृति को प्रायः दो स्तरों पर देखा जा सकता है। एक - संस्कृति का बाह्य स्वरूप, जिसमें दैनिक जीवन से सम्बन्धित कर्म आ जाते हैं। जैसे सान-पान, वस्त्राभूषण, मनोरंजन आदि। दूसरा - संस्कृति का आंतरिक स्वरूप, जिसमें धार्मिक पान्यतारं, अंधविश्वास और संस्कारों से सम्बन्धित पान्यतारं आदि आ जाती है। संस्कृति का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों के बीच समाज की इच्छाओं, बाकांडाओं और व्यवहारों के बनुष्प होता है। डा० सावित्री चन्द्र के बनुसार, समाज के अभिप्रेत मूल्यों या संस्कृति के प्रतीकों के बनने में वहाँ एक ओर देश-विशेषा, काल-विशेषा, जाति-विशेषा को पौराणिक कथारं, धार्मिक विश्वास, जो मुख्यतः अपनी उप्योगिता के कारण विकसित हुए हैं, प्रमाव डालते हैं, वहाँ

दूसरी ओर उस देश की माँतिक अवस्था, वैज्ञानिक स्थिति तथा क्रियात्मक उपलब्धियाँ भी मूल कारणों का काम करती हैं ।^३ बतः किसी लोक समाज की संस्कृति का अध्ययन उसकी ऐतिहासिकता और सामाजिक परिप्रेक्ष्य के साथ ही की जानी चाहिए ।

संस्कृति का बाह्य स्वरूप

लोक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वामाविकता है । इसके असली रूप को जानने के लिए लोक-जीवन के अध्ययन की बावश्यकता है । यह लोक जीवन किसी भी समाज की पृष्ठभूमि है और उसका मूल प्रेरणास्थल है । यही अवचेतन मानस की माँति जाति और समाज के समस्त जीवन को संचालित करता है । हमारे गांव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ एवं संस्कृत थे, उनकी सीधी-सादी वेश-भूषा, आहार-व्यवहार, रहन-सहन आदि समस्त मारतीय संस्कृति के परिचायक बनकर 'सादा जीवन उच्च विचार' लोकोक्ति के रूप में प्रकट हुए । गढ़वाली लोक-जीवन इसी अध्ययन की कहाँ है । इस दैत्र के जन-साधारण की वेश-भूषा, पोंजन, रहन-सहन आदि का अध्ययन गढ़वाली लोक गाथाओं के माध्यम से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

वेश-भूषा

गढ़वाली लोक-गाथाओं में यहाँ के ग्रामवासियों के विभिन्न वस्त्रों एवं बाघुणाओं के पहननेका उल्लेख पाया जाता है । इन्हें दो सामान्य मार्गों में विभक्त किया जा सकता है -- (१) विशेष अवसर पर प्र्योग किये जानेवाले वस्त्राभूषण एवं (२) सामान्य रूप से प्रयुक्त वस्त्राभूषण । इसके अतिरिक्त स्त्रियों एवं पुरुषों के बाधार पर भी वस्त्राभूषणों का विभाजन किया जा

१. समाज और संस्कृति : डा० सावित्री चन्द्र 'शोभा', पृ० १

सकता है। यह कहना तो बधिक उचित न होगा कि जिन वस्त्रों स्वं आभूषणार्थ का उल्लेख गढ़वाली लोक गाथाओं में उपलब्ध है, वे सबके सब यहाँ की जनता में आज भी प्रयुक्त किये जाते हैं, किन्तु इस उल्लेख से इतना तो निश्चित हो जाता है कि गढ़वाली जन-समाज उन सबसे परिवित है।

गढ़वाली देवत्र में स्त्रीयाँ सामान्यतः लहंगा, ओदूनी, घोती, कमीज, छाऊज, चौली, धाधुरी, अंगिया वादि वस्त्रों का प्रयोग करती हैं। 'आंगड़ी' बाँर 'टालखी' स्त्रीयों में इतनी बधिक प्रिय थी कि स्क पति बपनी पत्नी को खुश करने के लिए परदेश से उसके लिए 'आंगड़ी' बाँर टालखी लाने का उलाहना देता है --

मैना दुय्येक माँ धर बाँलो
आंगड़ो टालखी त्वेक लौलो ।^१

इसी तरह से 'धाधुरी' पहने का प्रचलन भी गढ़वाल में बहुत बधिक था --

लोसेन्दी धाधुरी पैरी बीन, सूवा फँसी धरे,
हिंवालू माँ नन्दा ज्ञो गागर लीक पाणीक गैंगे ।^२

पुरुषों द्वारा प्रयुक्त वस्त्रों में कमीज, कुर्ता, घोती, साफा या फाड़ी और अंगोद्धा वादि हैं। इस देवत्र के अधिकार्य लोग कृषक हैं। अतस्व उनकी वेश-भूषा सीधी-सादी बाँर सरल है। लेकिन पंवारों या वीरगाथाओं में जिन वीर पुरुषों के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है, उनमें वीरोंचित विशेष प्रकार के वस्त्रों का वर्णन है।

१. 'ज्ञो गाथा' : गढ़वाली माथा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त
भट्ट 'शैलेश', पृ० २४७

२. वही, पृ० २४८

आभूषण

गढ़वाल जनपद के निवासी विभिन्न आभूषणों का प्रयोग करते हैं, स्त्रियाँ विशेषकर आभूषण-प्रिय होती हैं। वे कपड़ों से भी अधिक गहनों को बाहती हैं। स्त्रियाँ के बतिरिक्त बच्चे एवं पुरुष भी आभूषणों को धारण करते हैं। कुछ आभूषण तो विशेष बवसरों पर ही प्रयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें निरन्तर व्यवहार में लाया जाता है। विवाह में वर पटा की समृद्धि का बनुमान उसके छारा लाये आभूषणों के बाधार पर ही किया जाता है। विशेष बवसरों पर स्त्रियाँ हाँसुली, सोन चूड़ी और 'बेसर' आदि धारण करती हैं --

'बिजोरिया हाँसुली जीति, फँफ़रियाली बेसर ।'^१

सुरजूली गाथा में सूरज्जु जह परदेश जाने को तैयार होता है तो उसकी बहिन सुरजी अपने माझे केविछोंह से दुःखी होती है और आँसू बहाती हुई भाइंसे परदेश न जाने का बाग्रह करती है। सूरज्जु अपनी बहिन को जल्दी लाँटने और तातालुहागढ़ (स्थान का नाम) से उसके लिए 'सोन चूड़ी' लाने का उलाहना देता है -

मिन बाण सुरजी भुली ताता लुहा गढ़,
भी लाँलु सुरजी त्वीकु मत्यागिरि सोना
मत्यागिरि सोना की त्वीकु सोनचूड़ी वणाँलु ।^२

कुछ आभूषण ऐसे होते हैं, जो निरन्तर धारण किये जाते हैं। इनमें बिन्दी, फुपकी, पाला, पायजेब, बिक्खुबा आदि प्रमुख हैं।^३

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : ढा० हरिदत्त भट्ट० 'श्लेश', पृ० २८७

२. वही, पृ० २५६

३. वही, पृ० २४७

स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुषों के आभूषणों का वर्णन भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में प्राप्त होता है। ब्रह्मौलि गाथा में बरमी मोतोपाला के साथ जुवे में अपने सारे आभूषण हार जाता है --

तब हारीन बरमीन कारुं का कुण्डल,
तब हारीन बरमीन हाधूं का पणिबंध,
हाथों का पणिबंध गात का बस्तर ।

खान-पान

गढ़वाली लोक-साहित्य में खान-पान के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण मिलता है। लोक गीतों में इसका सबसे अधिक उल्लेख हुआ है। इन गीतों में प्रस्तुत विवरण कहीं-कहीं तो इतना बढ़ा-बढ़ा कर किया गया है कि शायद ही ऐसी कोई साने पीने की वस्तु हो, जिसका उसमें उल्लेख न हुआ हो। किन्तु सावधानी से वर्ध्यन करने पर उसमें भी वे तथ्य खोजे जा सकते हैं, जिनसे इस दोत्र के निवासियों को खान-पान सम्बन्धी अभिरुचि का पता लग सकता है।

‘अन्नमयं हि सांघ्य मनः’ लोकोक्ति से प्रकट होता है कि मनुष्य जो अन्न खाता है, उसी के अनुसार उसका मन होता है। गढ़वाली में यह कहावत इस प्रकार प्रचलित है -- ‘जन्न वन्न, तन मन्’। इससे स्पष्ट है कि गढ़वाली जन-समाज अपने खान-पान के सम्बन्ध में सदैव सावधान एवं जागरूक रहा है। वस्त्र एवं आभूषणों की भाँति खान-पान को भी दो सामान्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -- (१) विशेष खान-पान, (२) सामान्य खान-पान।

विशेष खान-पान यज्ञोपवीत, कंच्छेदन, विवाह, मृत्यु बादि संस्कारों के समय प्रयुक्त होता है। किसी अतिथि के आने पर भी उसके लिए विशेष मोजन बनाया जाता है --

१. गढ़वाली माझा बाँर उसका साहित्य : ढा० हरिदर मट्ट ‘शेलेश’, पृ० २८७

फकाये मालकु निरपाणी लीर
 सतपुत्या धोऊ दीने पाँडित्या दहूँ ।
 लिलाये फिलाये बैन गदू सुम्प्याल ।

विभिन्न संस्कारों के अतिरिक्त होली, दोपावली आदि पर्वों, तीर्थ यात्रा के उपलक्ष्य में किए गये भोजन तथा देवी देवता के पूजन में भी विशेष प्रकार का भोजन बनता है ।

सामान्य भोजन में रोटी, भात, दाल, शाक आदि आते हैं ।

वस्तुतः गढ़वाल के लोगों की आर्थिक स्थिति बच्छी न होने पर भी वहाँ के निवासियों में यह परम्परा देखी जाती है कि विशेष अवसरों पर वे अपने ग्रामजनों एवं सम्बन्धियों को बार्मत्रित करते हैं और उन्हें अनेक स्वादिष्ट भोजन करवाते हैं । इस तरह के कार्यों में प्रायः प्रदर्शन की मावना ही अधिक रहती है, जो परिवार इस तरह के बायोंजनों पर भोज देने में असमर्थ रहते हैं, उन्हें सामाजिक उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है ।

रहन-सहन

गढ़वाल का लोक-जीवन प्रकृति के न्किट-साहचर्य के कारण सीधा और सरल है । लेकिन गढ़वाली लोक गाथाओं में जिस तरह के रहन-सहन का वर्णन मिलता है, उसमें एक और तो राजाओं, सामन्तों का विलासी जीवन है और दूसरी ओर आम नागरिकों का सामान्य जीवन, सरल और सादे जीवन को सौमित साधनों के आधार पर जिस प्रकार बिताया जा सकता है, उसी का अनुसरण इस दोत्र के सामान्य नागरिक करते हैं । इनमें अनेक की ऐसी स्थिति

१. 'गदू सुम्प्याल' : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त पट्ट 'श्लेश', पृ० २३०

होती है, जो आधे ही पेट खाकर सो जाते हैं और जिनके पास शीत से बचने के प्यांप्स साधन तक नहीं हैं। लेकिन ऐसे समृद्ध लोग भी हैं, जो सोने के फल्ग और रेशमी सेज पर शयन करते हैं।

बैठायों को रंग तै को कोठाय॑ टूटद,
सोवन सिन्चाली ज़ंका रूपा की पेदवाणी ।^४

दरबारी वैभव को व्यस्त करनेवाले विलासी जीवन का एक और फाँकी इस प्रकार है --

सुकली कोण्डो लगी सुतरी फलंग^२ ।
सुतरी फलंग गेलुवा विछोणा ।

मनोरंजन

अम से भरपूर और व्यस्त जीवन में भी गढ़वाल के लोग मनोरंजन के कुछ ज्ञान बुटा लेते हैं। मेलों और उत्सवों पर तो मनोरंजन होता ही है, किन्तु अनेक सांस्कृतिक तथा धार्मिक आयोजन भी उनके कर्मठ जीवन में सरसता का संचार करते रहते हैं। वैसे तो वहाँ का प्राकृतिक वातावरण वहाँ के लोगों के जीवन में संगीत की सरसता भर देता है, इस समस्त प्रदेश की गिरि-कन्दरारं एवं उपत्यकारं वहाँ के लोकगीतों की मधुर गूँज में छूटी हुई रहती है। इसके अतिरिक्त प्रायः जाड़ों की रात में स्कत्र होकर लोग प्राचीन जीवन की गाथारं 'मंडाण' के रूप में गाते हैं। इस प्रकार अम और संधर्षं भले हो हों, किन्तु लोग जीवन में अपने प्रति उदास नहीं होते। सामाजिक जीवन में ऐसे

४. सुरज्जुकौल : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - हा० हरिदत्त भट्ट
'श्लेष', पृ० २५४

२. चन्द्रावला हरण : वही, पृ० २७६

अवसर जुटा लेते हैं जिनमें उनको जी सोलकर हँसने और खुशी मनाने का अवसर मिल जाता है। विवाह, जनेजा, नामकरण आदि के अवसरों पर भी मनोरंजन के विशेष आयोजन किए जाते हैं।

तृत्य और संगीत को यथापि राज दरबारों की शोभा बढ़ाने का साधन माना जाता था, तथापि सामान्य जनता भी सामानान्तर रूप से तृत्य और संगीत में रुचि लेती थी। गढ़वाल में 'बांसुरी' को विशेष महत्व दिया जाता है। एक स्थान पर तो एक युवती मुरली की धुन पर इतना अधिक मोहित होती है कि वह उसी से विवाह करने की हठ कर बैठती है --

सुप्पाली तैन मुरली बन्मन माँति
मन होइगे मोहित चित चंचल
मर्फ कुछ होई जाई मैन मुरत्याक जाण ।^१

'पांसा' खेलने का उल्लेख भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिलता है --

गाढ़ीन जोतरा तिन, हस्ती दांत पांसा,
खेलण बैठीगे बाला, पांसद्यों को खेल ।^२

सामन्ती समाज में शिकार खेलना भी मनोरंजन का साधन माना जाता है।

अनेक लोक-गाथाओं में यह उल्लेख मिलता है कि राजा या राजकुमार शिकार खेलने के लिए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रामोण समाज, शिकार खेलने से परिचित था। जगदेव पंचार गाथा में जब कैडो कंगली राजा जगदेव के

१. नागराजा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : ढा० हरिदत्त भट्ट 'शंखेश', पृ० २६७

२. सूरज्जुकाल - वही, पृ० २६६

पास भिजा के लिए जाती है तो उसके दरबारी उसे यह कहकर वापस लौटा देते हैं कि राजा शिकार के लिए गये हैं --

तब बोलदू वो-हे केड़ी कंकाली,
हमारु राजा शिकार जायुँछ ।^१

विभिन्न पर्वों और विवाहादि के अवसरों पर मंगलगान की परम्परा भी गढ़वाल में देखी जा सकती है। सांक्षयानी देश के राजा की पुत्री के जन्मोत्सव के समय पूरे राज्य की पूजा जन्मोत्सव का मंगलगान करती है --

सांक्षयानी देश माँ मांगल छ्या जायेणा,
राजा सोनशाहकी जरधी नरंगी राजुला
आनन्द बहुई बजदी सांक्षयानों कोट माँ ।^२

मेले, उत्सव तथा त्यैहार

गढ़वाल में दान, धर्म, तीर्थ यात्रा, पूजा पाठ आदि को बहुत महत्व दिया जाता है। प्रायः यह देखा गया है कि गढ़वाल में अधिकांश पर्वत शिखरों पर देवी का मन्दिर और गहरी धाटियों में शिवालय हुआ करते हैं। इन स्थानों पर पवित्र तिथियों को मेले भी लगते हैं। देवी की पूजा का एक विशेषा कार्यक्रम 'बैसी' (बाष्प स दिन तक पूजन) कहलाता है। यहाँ के जीवन में लोक देवताओं की भी पान्चता है जिनमें 'गोल्ल', 'तृसिंह' आदि की बड़ी पूजा की जाती है। सूर्यों में 'निरंकार' और 'कैल विष्ट' नामक देवता की पूजा प्रचलित है।

१. जगदेव पंवार - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिद्व
भट्ट 'श्लेष', पृ० १६४

२. वही, पृ० २३०

अनेक मेले और त्योहार गढ़वाल के लोक-जीवन में सरसता लाते रहते हैं। लोग इन अवसरों पर रंग-बिरंगे कपड़े पहनते हैं। विभिन्न प्रकार के उच्च भोजन बनाते हैं और अनेक प्रकार के आयोजन करते हैं। गढ़वाल में 'गिन्दो' का तमाशा, ऐक्षेवर का मेला, पांडुकेश्वर का मेला, राधा-कृष्ण से सम्बन्धित सेम का मेला, उचरकाशी में मकर संक्रान्ति का मेला, जट्टी को वीरत्व प्रदर्शनकरनेवाला बामणी का मेला प्रसिद्ध है।^१ इन मेलों का सांस्कृतिक महत्व तो है ही, व्यापार के लिए भी बड़े महत्व-पूर्ण हैं। लोग अपनी-अपनी आवश्यकता की छोटी-भोटी वस्तुएँ इन मेलों में ले लेते हैं अस्थायी बाजारों से भी ले लेते हैं। त्योहारों में हिन्दुओं के आम त्योहार प्रायः सभी पनाए जाते हैं। रामनवमी, बैसाही, मकर-संक्रान्ति, जांसंक्रान्ति, फूलदेश, होली आदि का विशेष महत्व है।

संस्कृति का वैचारिक पक्ष

धार्मिक मान्यताएँ - समस्त भारतीय जीवन धर्म से बनुप्राणित है। यह शब्द इतना विराट सर्व व्यापक है कि इसे किसी एक परिभाषा या व्याख्या में नहीं बर्द्धा जा सकता। जीवन की बनन्तता की भाँति ही धर्म का अनन्तता है। जीवन के ऐहिक और पारलौकिक - दोनों पहलुओं से धर्म सम्बन्धित है। अतएव धर्म उन सिद्धान्तों, तत्त्वों तथा जीवन पद्धति को कह सकते हैं, जिसे मानव समाज हीश्वर प्रदर्श शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके। साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म परण के फंकाटों में न पड़कर शाँति व सुख का अनुभव कर सके। अतएव धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिनके द्वारा मानव समाज सन्याग्रं में प्रवृत्त होकर तथा उन्नतशील बनकर अपने अस्तित्व को धारण करता है।

गढ़वाली लोक समाज में धर्म का अद्भुत वैष्णव एवं वैविध्य प्राप्त होता है। उसमें कर्म के प्रत्येक अनुष्ठान में कितने ही तत्त्वों का संयोग मिलता है। समाजशास्त्रीय अध्ययन के द्वारा इस लोक-धर्म के विभिन्न स्तरों का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि इन स्तरों पर इष्टि ढाली जाय तो पहला स्तर टोने-टोटकों का मिलेगा। किसी भी प्रकार का अनुष्ठान हो, कोई संस्कार हो, कोई उत्सव हो, एक न एक टोना या टोटका उसके साथ लगा होगा। दूसरे स्तर पर देवी देवताओं की भावना है। इन देवी देवताओं में पितरों की मृतात्मार्द, मसान, विविध देवियाँ, मृत-प्रेत, हवार्द, संत फ़कीरों की मृतात्मार्द तथा विभिन्न अन्य देवता सम्मिलित हैं। इनमें एक स्तर पर देवी-देवताओं के निवारण करने के टोटके रहते हैं तो दूसरे स्तर पर उनकी पूजा-उपासना रहती है। इनके ऊपर सामान्य धार्मिकता का बावरण रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्तर के अनुकूल मूर्तिविषान, पूजापाठ, पंत्र-पाठ, यज्ञ, पौरोहित्य कर्म आदि तत्त्व भी मिलें। इन सभी धार्मिक मान्यताओं में पंगल और समृद्धि की भावना विद्मान रहती है।

गढ़वाली लोक-समाज मुख्यतया फंडेवोपासक स्मार्त वैष्णव धर्म का अनुयायी है। राम, कृष्ण एवं शिव की पूजा यहाँ सर्वत्र प्रचलित है। रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी, शिव-ऋषोदशी के उपवासों के अतिरिक्त लोक-समाज में इन उपास्य देवों के प्रति अनेक भजन एवं कीर्तन गाये जाते हैं। अयोध्या, मधुरा एवं काशी आदि तीर्थ स्थानों के प्रति लोक-समाज की झबण्ड आस्था भी इस बात का धोतक है कि जनता में भगवान के रूपों में से इन तीनों का प्रमुख स्थान है।

उपर्युक्त देवी देवताओं के अतिरिक्त प्रत्येक गाँव के अपने स्थानीय देवी-देवता होते हैं। इनमें भेरों, रुसिंह, नागराजा, निरंकार, देवत्रपाल आदि देवताओं एवं ज्वाल्पा, मुवनेश्वरी, सिद्धेश्वरी आदि ग्रामीण देवियाँ गिनाई जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार के भी अपने-अपने गृहदेवी एवं

देवता होते हैं। गढ़वाली लोक-गाथाओं में इन ग्रामीण देवताओं का वर्णन फ्यार्म्प्ट मात्रा में मिलता है -

सुमिरन करद जीतू बगड़ी मेरों,
करव हूँवली मेरी कुलदेवी भवानी ?
आज में पर ऐसे विपदा भारी ।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि धार्मिक पान्ध्यताओं के पीछे लोक-समाज में अन्धविश्वास को भी अत्यधिक फ़ृश्य मिलता है। गढ़वाल में जैके प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास आज भी देखे जा सकते हैं।

बन्धविश्वास

संस्कृति के विकास में सामाजिक अंधविश्वासों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। सभ्यों से लेकर असभ्यों तक के सामाजिक जीवन में विशेष प्रथार्दिशाई देती है। तंत्र-मंत्र साहित्य इस अध्ययन की एक महत्वपूर्ण कहाँ प्रस्तुत करता है। तंत्र-मंत्र भक्ति तत्त्व को विकृत करने वाले कहे जाते हैं परन्तु इनमें श्रद्धा का वह अँश रहता है जिसका मूल्य असाधारण है। संस्कृति का रूप आत्मा का रूप है। श्रद्धा, आस्था और विश्वास इसके बभिन्न अंग हैं। अतः किसी देश की संस्कृति के अध्ययन के लिए उसमें प्रचलित प्रथार्द, गीतियाँ, बन्धविश्वास, तन्त्र-मंत्र, टोने-टोटकों का अध्ययन जावश्यक है। बन्धविश्वास से लोक का सामाजिक जीवन आत्यन्तिक रूप से प्रभावित होता है। दैनिक कार्यों और विशेष अवसरों पर शक्ति विचार किया जाता है। गढ़वाल में इसी तरह की एक घारणा प्रचलित है कि यदि किसी शुभ कार्य के लिए जाते समय बकरी कींक दे तो अपशक्ति माना जाता है --

४. जीतू वगढ़वाल गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य :
ठा० हरिदर्श भट्ट 'श्लेष', पृ० १८६

नीजाणू जीतू त्वंक हवेंगे असगुन
तिला बाखरी तेरो ठक छ्युंदी ।^१

गढ़वाली लोक-समाज कर्मकाण्ड और पौरोहित्य में इतना अधिक
विश्वास करता है कि कृष्ण जैसे कार्य के लिए भी उसे पुरोहितों का सहारा
लेना पड़ता है --

सुदिन सुवार लंगुली को दिन
पातुड़ी की भेट घरी, सेला चौलि पाथी ।
घुलेटी की भेट घरी, सोवन को टका^२
चलीगे शोभनु तब बरमा क पास ।

विवाह से पूर्व वर और वधु की जन्म कुंडलियों का मिलान किया
जाता है और ग्रहभेद, नाड़ी भेद आदि पर विचार किया जाता है ।
'राजुला मालूशाहो' गाथा में इसी तरह का एक प्रसंग उपलब्ध होता है । मालू
का विवाह राजुला के साथ त्य हो जाता है । कुछ दिन बाद जब राजुला
का श्वसुर स्वर्गवास होता है तो राजुला के 'नाड़ी भेद' को ही श्वसुर की
मृत्यु का कारण समझा जाता है --

पर राजुला को छों बल नाड़ी भेद
ससुरा तैं तब वो पिढ़ाये
राजा दोलशाही स्वर्गवास हवेंगे ।
मंत्री तंक्रियाँन इनों मंत्र करी
इं निरभागी बारी क मर्गण से

१. जीतू वगड़बाल - गढ़वाली माषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त
भट्ट 'श्लेषा', पृ० १०४
२. वही, पृ० १८३

ससुरा परी गये ।

या व्यारी हमन कर्ह नि लोण ।^१

अंगविश्वास कभी-कभी जीवन को बत्थधिक कटु बना देते हैं । लेकिन समाज में बहुत सी बातें सिर्फ़ इसलिए स्वीकार की जाती हैं क्योंकि वे स्वीकार की जाती रही हैं । उन्हें पोछे कोई तर्क नहीं होता ।

तंत्र-मंत्र

गढ़वाली देवता में प्रकृति पूजा, यज्ञ-पूजा, नागपूजा आदि का हूब प्रचलन है । भूमि का देवता 'भूमिया' और शक्ति की देवी 'भवानी' को यहाँ के सभी ग्रामीण जन पूज्य मानते हैं । वृक्षाँ एवं पुष्पाँ की पूजा भी प्रचलित है । लोक जीवन में इनकी मान्यता दो रूपों में मानी गयी है -- (१) हितकामना के लिए, तथा (२) अहित कामना के लिए । वस्तुतः सभी तंत्र-मंत्रों का सम्बन्ध भूत-प्रेत जैसी अनिष्टकारी बात्यार्जी से है । तंत्र-मंत्रों की विशिष्ट पद्धति से या तो भूत-प्रेतों को भगाया जाता है । उनके प्रमाण से ग्रसित व्यक्ति को मुक्त कराया जाता है अथवा उन्हें सिद्ध करके किसी शत्रु को हानि पहुंचाई जाती है । रोगमुक्ति, सर्प, बिचू आदि का विष उतारने, द्वृष्टिं बात्या को दूर करने तथा शत्रु को मारने या हानि पहुंचाने के उद्देश्य से इनका प्रयोग किया जाता है । 'ब्रह्मांड' गाथा में जब बरमी पत्थर माला को व्याहने नागलोक जाता है तो वह नाग छारा डस दिया जाता है और वह मूर्च्छित हो जाता है । तब सिद्धवा मंत्र बाँर ताढ़ा (बद्धत) देकर उसे पुनः जीवित कर देता है --

मारे बैन निलाट को ताढ़ो
कांडार की जड़ी लिलाट थाये

१. पालूरामुला : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदेव मटट 'श्रेष्ठ', पृ० २३०

खड़ो उठी गे तब लाड्लो बरमो ।^९

इन तंत्र-मंत्रों को कुछ तो साधारण लोग भी जानते हैं किन्तु इनके विशेष ज्ञाता 'ओफा' या 'गारुड़ी' कहलाता है।

इनके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के कुछ विशेष लोग भी इनसे परिचित होते हैं। प्रायः वे सभी जातियाँ निम्न वर्ग की होती हैं, किन्तु वपने मंत्रों की शक्ति के कारण वे ग्रामीण समाज में बड़े सम्मानित और विख्यात रहते हैं।

जादू-टोना

उपर्युक्त विवेकना से स्पष्ट है कि मंत्र और टोने का धनिष्ठ सम्बन्ध है। टोने अथवा जादू का जान्तरिक सिद्धान्त यह है कि सप्तस्त प्रपञ्च किन्हीं परामानवीय शक्तियों से जो ऋमर्यों में बंदकर चलती है, संचालित होता है। अनुष्ठानों और जन्त्र-मंत्र से उस शक्ति या शक्तियों को विवश करके वपने मनोनुकूल फल प्राप्त किया जाता है। यह भावना धर्म भावना से विरुद्ध है, इसलिए स्तुति और मंत्र को झल-झल माना गया है। स्तुति द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है जिससे अभोष्ट की पूर्ति हो। किन्तु मंत्र अपनी शक्ति से विवश करके उस शक्ति से अभीष्ट पूर्णकरवाता है। जादू और टोने का प्रयोग द्वासरों को वस में करने के लिए, अपने कार्य का सिद्धि के लिए और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए किया जाता है। गढ़वाल में भी इस तरह के जादू-टोने का प्रचलन था और न्यूनाधिक रूप से आज भी दिखाई देता है। 'सूरजूकलि' गाथा में सूरजू जब जोतर माला को लेने हूणियों का

१. गढ़वाली माणा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', पृ० २६२

देश भोदन्त पहुँचता है तो वह शत्रुपक्ष को शक्तिशाली समर्पण कर उन पर माँ काली का जाप करता है, जिससे वह जोतर माला तक पहुँचने में सफल हो जाता है --

पाँछिंगे सुरजू हूणियों का देश,
कंक्याली सुरजू तिन पजाबी चुंगडी ।
पोडिंगे राक्षसु जख माँ काली को ज्वाय ।^१

रास्ते में सुरजू को विषकन्याएँ धेर लेती हैं बाँर वह मूँहिंत होकर गिर पड़ता है। गुरु गोरखनाथ उसे स्वप्न में क्षेत्रे हैं तथा संजीवनी विधा का प्रयोग कर उसे विष कन्याओं से मुक्त करते हैं --

तब जाँद सूरजु तब गुरु का सुपीना,
ई गज़ गुरु जी बाज विषुली काल्य
गाड़ियाल गुरु न संजीवनो विधा
हैं सदा ज्युंदाल गाल्या अमृत की तुंबी
मारिने ज्युंदाल बालों बबरेक बोजि ।^२

इस तरह के जादू-टोने की प्रथा प्रायः हर लोक-समाज में दिखाई देती है। गढ़वाल में 'बोंगसाडी' विधा का भी प्रचलन था। इस विधा को जानने वाला व्यक्ति बपना रूप परिवर्तनकर अपने कार्य की सिद्धि किया करते थे। वर्तमान में इस तरह की विधा प्रायः नहीं मिलती है, लेकिन इस पर जो कहानियाँ आज भी लोक-भानस में संचित हैं, उनसे पता चलता है कि कभी न कभी इस विधा का वस्तित्व अवश्य था।

०

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदेव भट्ट 'श्लेष', पृ० २६०

२. वही, पृ० २६०

उपर्युक्त

गढ़वाल के लोक-जीवन का वास्तविक स्वरूप यहाँ के लोक-साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ है। लोक-साहित्य के हारा हस दोत्र की स्थानीय एवं सामान्य लोक-संस्कृति की काव्यात्मक अभिव्यंजना हुई है। लोक-साहित्य की समस्त सामग्री यहाँ के सामाजिक, राजनीतिक, गार्थिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, मौगोलिक पक्षों की घटरेता प्रकट करके यहाँ के लोगों का जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है।

पंचारे बाँबन्य लोक-गाथाएँ पध्यकाल का सामाजिक व्यव्याप्ति करने के लिए विशेष उपयोगी हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इस दोत्र में ब्राह्मण बाँबर दाक्षिण्य विशेष प्रमावशाली रहे हैं। वैश्य एवं शूद्रों का अस्तित्व नगप्य है। निष्ठ वर्ग की जैसी कोई बपनी सूहा हो नहीं है। वह स्क धूटन में फिसता हुआ सा दिखाई देता है।

स्थानीय लोक-समाज में समय-समय पर जिस साम्य-वैष्टीम्य का बन्धन किया, लोक-गाथाओं में उसका यथात्म्य वर्णन उपलब्ध होता है। स्क और यदि माता-पुत्री के निश्छल प्रेम का वित्रण हुआ है, तो दूसरी बाँबर माता-पिता एवं मार्ईयों के हारा उसके प्रति उपेन्द्रा की मावना को भी वाणी किली है। सास-बहु बाँबर ननद-मावज के मधुर एवं कटु व्यवहारों का पार्मिक वर्णन उसमें किया गया है, तो पतिव्रता नारी के बतिरिक्त कर्मशा एवं कुलटा स्त्री भी उसका विषयबनी है। जीवन के कोपठ-कठोर तथा सुन्दर-असुन्दर सभी घरों द्वारा वर्णन हन गाथाओं में रहने के कारणबादशं बाँबर यथार्थ द्वारा प्रत्येक धरातल पर मणिकार्यन योग हुआ है। सामान्य लोक-नीति, बाचार-विवार, परम्परा-प्रथा बाँबर द्वारा सभी रचनाओं में न्यूनाधिक विवेचन किया

गया है। ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित परिस्थितियों स्वर्ण लोक-विश्वासों को विशेष प्रहत्त्व दिया गया है।

पंचारों, प्रबन्धनीतों स्वर्ण लोक-कथाओं के छारा राजनीतिक जीवन की भी फलक मिलती है। छोटी-छोटी बातों पर युद्ध करनेवाले राजाओं की मनोवृत्ति उनमें स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। प्रायः युद्ध किसी सुन्दरी के कारण या स्कूड दूसरे को अपमानित करने के लिए हुआ करते थे। विधवा पातारं अपनी बीर संतानों को शत्रु के साथ लहूने के लिए उकसाती थीं। 'अमरावती' स्कूड ऐसी ही माँ है, जिसने 'रणुराती' को ऐतिहासिक स्थान प्रदान की।

यथार्थ की मूमि पर निर्मित होने के कारण गढ़वाली लोक-साहित्य स्थानीय बार्थिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है। ग्रामीण जीवन में यदि सुख-समृद्धि तथा धन-धान्य के स्वरूप हैं, तो उसके दुःख, गरीबी और मूख की चिंता के बर्णन भी उसमें उपलब्ध होते हैं। सूखे और दुर्धिक्षा के कुप्रभावों का बर्णन बनेक गाथाओं में हुआ है। 'मानु पर्मीलो' गाथा में हिंसा हिंद्वाण बक्ल के कारण बार्थिक रूप से इतना विपन्न हो जाता है कि वह अपने परिवार के लिए मोबन नहीं झुटा पाता है तो वह अपने परिवार को विष ढेकर पार डालता है और स्वयं भी पर जाता है।

धार्मिक पट्टा की दृष्टि से गढ़वाली लोक-गाथाओं में प्रचुर सामग्री मिलती है। स्थानीय देवी-देवताओं, बनुष्ठान, धार्मिक-विश्वासों, जादू-टोना, शकुन-बपशकुन सम्बन्धों धारणाओं पर गाथाओं छारा प्राप्ति प्रकाश पड़ता है। यहाँ स्मार्त वैष्णव धर्म का मुख्य प्रमाण दिखाई पड़ता है। स्त्रियों की व्रत-उपवासों की संख्या बगणित है। पुत्र प्राप्ति की कामना से वै गंगा, सूर्य तथा बनेक देवियों की वाराघना करते हुए दिखाई गयी है। मगतों स्वर्ण बोझाओं की पंत्र-पद्धति तांत्रिक साधनज्ञों का प्रमाण सूचित करती है। दुःख बधाया वैष्णव का मूल कारण कर्म-फल मानना, मात्र की प्रबलता

को स्वीकार करना तथा इह परम्पराओं की पान्यता अत्यन्त स्पष्ट है ।

बादू-टोनों की व्यापक चर्चा में गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिलती है । शत्रु नाश, रोग या मूत-प्रेत निवारण के लिए बादू-टोने का प्रयोग किया जाता है । 'ब्रह्मकर्णिं' गाथा में जब बरमी नाग द्वारा पराजित हो जाता है, तो नाग पर विजय प्राप्त करने के लिए बाँर बरमी को पुनः जीवित करने के लिए सिद्धवा बादू-टोने का बाह्य लेता है बाँर इस तरह वह 'पत्थर माला' को प्राप्त करने में सफल हो जाता है तथा बरमी भी जीवित होकर पत्थर-माला से विवाह कर लेता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक-विश्वास, बादू-टोने वादि, जो कि लोक-संस्कृति के महत्वपूर्ण बंग होते हैं - गढ़वाली लोक-गाथाओं में प्राप्त मात्रा में व्यक्त किये गये हैं । इनमें प्रूति-पूजा, नाग-पूजा वादि के अवशेष भी विषयान हैं ।

यहाँ के समाच की नैतिकता के दर्शन मी गढ़वाली लोक गाथाओं में स्थान-स्थान पर होते हैं । स्त्रियाँ यदि संतान-कामना के लिए देवार्चना करती हुई दिखाई देती हैं, तो सतीत्व रक्षा के लिए अपने प्राण विसर्जन करने में भी वे हिक्कती नहीं । प्रेम-मावना उच्च-स्तर पर चित्रित हुई है, जिसके बैयंकितक, पारिवारिक एवं सामाजिक, सभी रूप व्यक्त हुए हैं । छान-पान, वेश-मूणा, दिन-वार वादि के बनेक उदाहरण शिक्षा के रूप में मिलते हैं । इनके द्वारा ही जनसाधारण का दैनिक जीवन परिवर्तित होता है । कब व्याध करना चाहिए, व्याध नहीं करना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख यहाँ उपलब्ध होता है । वस्तुतः बिना इनके सहारा लिए लोक-जीवन स्क पा मी आगे नहीं बढ़ सकता ।

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य का सामान्य परिचय
प्रथम संस्करण, प्रकाशक - साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद ।
२. डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका,
प्रथम संस्करण सन् १९५७ है०, प्रकाशक - साहित्य भवन
प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद ।
३. डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक संस्कृति की रूपरेखा,
प्रथम संस्करण सन् १९८८ है०, प्रकाशक - लोक मारती
प्रकाशन, इलाहाबाद ।
४. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस (मूल गुटका)
प्रकाशक - गीताप्रेस, गोरखपुर ।
५. सं० डा० गोविन्द चात्कु : उच्चराखण्ड स्कू सर्वेज्ञान
सन् १९६८ है०, प्रकाशक - उच्चराखण्ड समाज, दिल्ली
६. डा० गोविन्द चात्कु : मारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्यहिमाल्य,
प्रथम संस्करण सन् १९६० है०, प्रकाशक - तदाशिला प्रकाशन,
कई दिल्ली ।
७. डा० प्र्याग जोशी : कुमाऊँ गढ़वाल की लोक गाथाओं का विवेचनात्मक
विध्ययन, प्रथम संस्करण सन् १९८७ है०, प्रकाशक - प्रकाश बुक
डिपो, बोली ।
८. मगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन मारत का इतिहास, प्रथम संस्करण,
सन् १९४६ है०, प्रकाशक - ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना ।

६. पोलानाथ तिवारी : माषा और संस्कृति
प्रथम संस्करण सन् १९८४ हौ०, प्रकाशक - प्रभात प्रकाशन,
दिल्ली ।
१०. डा० पोहन्हाल बाकुलकर : गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक
बध्यन, प्रथम संस्करण, सन् १९६४ हौ०, प्रकाशक - हिन्दी
साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
११. रामनरेश त्रिपाठी : कविता काँमुदी, भाग ५, ग्राम गीत,
सन् १९५८ हौ०, प्रकाशक - नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई ।
१२. डा० वासुदेव शरण बग्वाल : पृथ्वीपुत्र, द्वितीय संस्करण, सन्
१९६० हौ०, प्रकाशक - रामप्रसाद रण्ड सन्च, जागरा ।
१३. डा० श्याम परमार : मारतीय लोक साहित्य,
प्रथम संस्करण, सन् १९५४ हौ०, प्रकाशक - राज्यमण्ड पक्षिकेशन
लिमिटेड, बम्बई ।
१४. शशि सहगल : न्यी कविता में पूत्य बोथ
प्रथम संस्करण, सन् १९७६ हौ०, प्रकाशक - बमिनव प्रकाशन,
दरियागंज, दिल्ली ।
१५. श्यामाचरण द्वे : मान्त्र और संस्कृति, प्रथम संस्करण,
सन् १९८२ हौ०, प्रकाशक - राज्यमण्ड प्रकाशन, नई दिल्ली ।
१६. डा० सत्यकेतुविघाल्कार : मारतीय संस्कृति और उसका इतिहास,
प्रथम एवं द्वितीय भाग, प्रकाशक - सरस्वती सदन, पम्पुरी ।
१७. डा० सत्यकृत सिद्धांतल्कार : मारत की जनजातियाँ तथा संस्थार्द,
प्रथम संस्करण सन् १९६० हौ०, प्रकाशक - विज्ञ कृष्ण
लखनाल रण्ड कम्पनी, विधाविहार, देहरादून ।

१५. डा० सत्येन्द्र : ब्रज लोक-साहित्य का वर्धयन
 द्वितीय संस्करण, सन् १९५७ हॉ०, प्रकाशक - साहित्य रत्न
 मंडार, बागरा ।
१६. डा० सत्येन्द्र : पथ्य युगीन हिन्दी साहित्य का लोक-तात्त्विक वर्धयन,
 प्रथम संस्करण सन् १९६० हॉ०, प्रकाशक - विनोद पुस्तक
 पन्दिर, हास्पिटल रोड, बागरा ।
२०. डा० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, द्वितीय संस्करण,
 सन् १९७१ हॉ०, प्रकाशक - शिलाल क्षेत्र काम्पनी,
 बागरा ।
२१. डा० सावित्री चन्द्र 'शोपा' : समाज बाँर संस्कृति, प्रथम संस्करण,
 सन् १९७५ हॉ०, प्रकाशक - नेशनल प्रिलिंग हाउस, दरियागंज,
 दिल्ली ।
२२. सूर्योदय पारीक : राजस्थानी लोकगीत, प्रथम संस्करण वि० १९६६,
 प्रकाशक - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्राग
२३. डा० सुरेश चन्द्र त्रिपाठी : कनउजी लोक-साहित्य में समाज का
 प्रतिबिष्ब, प्रथम संस्करण सन् १९७७ हॉ०, प्रकाशक -
 रूपायन प्रकाशन, ब्रह्मोक विहार, दिल्ली ।
२४. संतराम बनिल : कनाओंची लोक साहित्य, प्रथम संस्करण,
 प्रकाशक - अभिनव प्रकाशन, दिल्ली ।
२५. डा० हरिदेव पट्ट० 'शेलेश' : गढ़वाली भाषा बाँर उसका साहित्य
 सन् १९७६ हॉ०, प्रकाशक - हिन्दी समिति, उचर प्रदेश शासन,
 लखनऊ ।
२६. प० हरिकृष्ण रत्नांशु : गढ़वाल का इतिहास, तृतीय संस्करण,
 सन् १९८८ हॉ०, प्रकाशक - मागीरथी प्रकाशन, टिहरी ।
२७. डा० हुकुमचन्द्र राजपाल : बाधुनिक काव्य में नवीन जीवन प्रूप्य,
 प्रथम संस्करण सन् १९७२ हॉ०, प्रकाशक - दीपक प्रिलिंग, बालैंगर ।

कोश

१. सं० एलेक्जेंडर सं० क्रैस्ट : स्टेन्डर्ड डिस्ट्रीब्युशन बाफ फॉक लौर,
रदिसन १६४६ हॉ०, प्रकाशक - विल्यम रण्ड राबर्ट,
वेस्टसें, लिमिटेड, राफिनेंग ।
२. चन्द्रशेखर 'बाबाद' : गढ़वाली हिन्दी कहावत कोश, प्रथम
संस्करण, सन् १६७७ हॉ०, प्रकाशक - तदाशिला प्रकाशन,
हॉ दिल्ली ।
३. सं० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, त्रुतीय संस्करण सन्
१६८५ हॉ०, प्रकाशक - ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।

पत्रिकाएँ

१. 'जनपद' - लोक साहित्य विशेषांक, अवतूबर सन् १६५२ हॉ०
प्रकाशक - काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
२. सम्प्रेलन पत्रिका : माग ४७, अंक २, प्रकाशक - हिन्दी साहित्य
सम्प्रेलन, प्राग ।
३. हिन्दी अनुशोठन पत्रिका : वर्ष ४, अंक ४, प्रकाशक - पारतीय
हिन्दी परिषद, हलाहालाद ।

